प्रस्तावना

उर्दू के महाकवि इक़बाल ने अपनी 'सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' वाली कविता में कहा था—

यूनानो मिस्रो रोमां सब मिट गये जहां से,

कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जमां हमारा ॥

यद्यपि सदियों से काल चक्र हमारा शत्रु रहा है तो भी हमारी हस्ती नहीं मिटी इसकी तह मे भी कोई बात है। वह बात क्या है ? मैंने इस पुस्तक में इस प्रश्न का उत्तर देने का यत्न किया है।

भारत का भूगोल उसका शरीर है—वह परवश होता रहा है परन्तु संस्कृति उसकी अन्तरात्मा है—वह आघात पर आघात पाकर भी बची रही है यही कारण है कि हम काल की चोटों को निरन्तर सहकर भी बने हुए है।

यूनान आज भी है परन्तु जो यूनान यूरोप का मुकुट मणि था वह कभी का समाप्त हो चुका। रोम का नाम अब भी विद्यमान है परन्तु सप्तद्वीपा वसुमती का भाग्यविधाता रोम कभी का काल की गाल में विलीन हो गया। यही पुराने मिसर की भी दशा हुई। वह मिसर जो कभी अफ्रीका की सभ्यता और राज्य-शक्ति का केन्द्र था केवल उन पिरामिडों के रूप में अवशिष्ट है, जो पुरातत्वान्वेषकों के अनुसंधान की सामग्री मात्र रह गये हैं। परन्तु भारत युग-युगान्तरों के परिवर्तनों क्रान्तियों और तूफानों में से निकलकर आज भी उसी संस्कृति का वेष धारण किये विरोधी शक्तियों की चुनौतियों का करारा उत्तर दे रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत की संस्कृति का प्रवाह अपनी मुख्य नदी

गगा के प्रवाह की भाँति अक्षुण्ण रहा है। दायें-बायें से जो नदी-नाले आये वे गगा म विलीन हो गये। उन्होंने गगाजल के रग पर कुछ अस्थायी प्रभाव तो डाला परन्तु न तो वे उसके स्वरूप म परिवतन कर सके और न प्रवाह को बदल सके। इस्लाम और ईसाइयत के झोंको ने थोडी देर तक उसके सिर को झुकाया तो सही परन्तु जहाँ उन झोंका का जोर कम हुआ कि भारतीय संस्कृति का सिर फिर आकाश में उठा हुआ दिखाई देने लगा।

इस पुस्तक मे मैंने भारत की संस्कृति के अब तक के जीवन की गाथा सुनाने का यत्न किया है। यदि व्यतीत का अनुभव भविष्य का सूचक हो सकता है तो हम आशा रखनी चाहिए कि भविष्य म पश्चिम और पूव से जिन अन्धडो के आने की आशका है वे भी हमारी संस्कृति की हस्ती को न मिटा सकेंगे। शुभमस्तु।

—इन्द्र विद्यावाचस्पति

सूची

पहला अध्याय

भारतीय सस्कृति का रूप

सस्कृति क्या है ?—किसी देश की आध्यात्मिक सामाजिक और मानसिक विभूति को उस देश की सस्कृति कहते हैं। अग्रजी मे उसके लिये कल्चर (Culture) शब्द का प्रयोग होता है। उसके विपरीत देश की भौतिक और अन्य बाह्य विभूतियो के लिये सभ्यता (सिविलाइजशन) शब्द का प्रयोग किया जाता है। सभ्यता शब्द अग्रजी के सिविलाइजशन (Civilization) शब्द का पर्यायवाची बन गया है। भारत के प्राचीन साहित्य मे जिसे आजकल सस्कृति कहते हैं उसके लिये सामान्य रूप से धर्म शब्द का प्रयोग किया जाता था और जिसे वतमान भाषा म सभ्यता कहते है उसका अन्तर्भाव 'अर्थ' शब्द मे था। परन्तु समय के साथ साथ धम और अथ इन दोनों शब्दो का प्रयोग सकुचित होता गया। धम केवल विश्वास और कर्म का पर्यायवाची रह गया और अथ का दायरा धन-सम्पत्ति तक परिमित हो गया। इस कारण यद्यपि सस्कृति और सभ्यता शब्दो का वतमान प्रयोग हमारी भाषा में नया है तो भी अभिप्राय को प्रकट करने की दृष्टि से वह उपयोगी और ग्राह्य है।

दोनो म भद समझने के लिये एक दृष्टान्त लीजिये। एक सभा म दो व्यक्ति आते हैं एक व्यक्ति राल्स रायस मोटरकार म बहुमूल्य अग्रजी सूट म सजा हुआ आता है और लोगो के नमस्कार का उत्तर हैट हाथ म लेकर देता है दूसरा व्यक्ति एक सजे हुए हाथी पर से उतरता है उसका शरीर बहु मूल्य भारतीय-वेश तग पायजामे तिलई काम के अँगरखे और पगडी से सुशोभित है सभवत शरीर पर दो-एक आभूषण भी हैं और वह लोगो को नमस्कार का उत्तर हाथ जोडकर देता है। दोनों की भौतिक विभूति एक-सी है बाह्य ठाठ-बाट में कोई भद नहीं परन्तु देखने वालों को यह

समझने में जरा भी देर न लगेगी कि एक पश्चिम की संस्कृति का और दूसरा भारत की संस्कृति का प्रतिनिधि है।

संस्कृति शब्द बहुत व्यापक है। संस्कृति शब्द में देश के धर्म साहित्य रीति रिवाज परम्पराओं सामाजिक संगठन आदि सब आध्यात्मिक और मानसिक तत्वों का समावेश होता है। इन सब के समुदाय का नाम संस्कृति है।

संस्कृति की एकता और भौगोलिक एकता—यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है कि संस्कृति और देश की भौगोलिक सीमाएँ सदा एक सी ही नहीं रहतीं। देश की भौगोलिक सीमाएँ राजनीतिक कारणों से बदलती रहती हैं। योरप के दूसरे महायुद्ध ने जर्मनी को दो भौगोलिक इकाइयों में बाँट दिया है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जर्मनी दो हो गये हैं। जर्मनी एक है क्योंकि जर्मन लोगों की संस्कृति एक है। जब तक जर्मनी के दोनों भागों की संस्कृति एक है तब तक जर्मनी की एकता बनी हुई है। भौगोलिक भिन्नता जिस राजनीतिक तनाव का परिणाम है उसके शिथिल होते ही जर्मनी एक हो जायगा। गत शताब्दी के इतिहास में पोलण्ड फ्रांस आदि अनेक देशों की भौगोलिक सीमाओं में परिवर्तन करने का यत्न किया गया परन्तु क्योंकि पोलण्डवासियों की सांस्कृतिक एकता जीवित रही अतः पोलण्ड फिर एक हो गया। स्पष्ट है कि किसी जाति की एकता का स्थायी आधार उसकी संस्कृति है। भौगोलिक एकता सप्ताहों या महीनों में तोड़ी जा सकती है परन्तु सांस्कृतिक एकता शताब्दियों और युगों तक विद्यमान रहती है। वह जाति के जीवन का स्थायी भाव है।

भारतीय संस्कृति की एकता—यह प्रश्न कुछ समय पूर्व विवादग्रस्त समझा जाता था कि भारतीय संस्कृति नाम की कोई चीज है भी या नहीं। विशेष रूप से विदेशी लेखक भारत में धर्म भाषा वेश भूषा और प्रान्तों के भेदों के आधार पर यह सिद्ध करने का यत्न करते थे कि भारत की कोई एक संस्कृति न कभी रही और न आज है। परन्तु उनका यह

विचार निर्मूल सिद्ध हो गया जब देश में फिर एक बार राष्ट्रीय चेतना का जागरण हुआ। उस समय विदेशी विचारकों और उनके शिष्यों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि पेशावर से लेकर रामेश्वरम् तक और पश्चिमी घाट से लेकर पूर्वी घाट तक एक ही ज्वाला जल उठी है। जो लोग यह समझ बैठे थे कि भारत में एकता कभी हो ही नहीं सकती वह देश के सब प्रान्तों के निवासियों को भिन्न भाषाओं में परन्तु एक ही स्वर में देश की स्वाधीनता का नारा लगाते हुए सुनकर अचम्भे में आ गये।

इस ऐतिहासिक परम्परा पर गम्भीरता से विचार करें तो एक प्रश्न उत्पन्न होता है। यदि भारत एक था तो वह पराधीन क्यों हुआ? और यदि वह एक नहीं था तो एक ही भावना से प्रेरित होकर स्वाधीन कैसे हो गया? इसे हम इतिहास के तत्वज्ञान का एक महत्वपूर्ण प्रश्न कह सकते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर ढूढ़ने के लिए हमें भारत के पूरे इतिहास पर एक सरसरी दृष्टि डालनी पड़ेगी। भारत सदा से एक रहा है। आज से सहस्रों वर्ष पहले महाभारत में व्यास मुनि ने भारत का वर्णन निम्नलिखित श्लोक से आरम्भ किया—

> अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्
> प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च।

अब यहाँ मैं स्वर्ग के राजा इन्द्र और पृथ्वी के राजा वैवस्वत मनु के प्यारे भारतवर्ष का वर्णन करता हूँ। इसके आगे व्यास मुनि ने अपने समय से पूर्व भारतवर्ष में हुए अनेक चक्रवर्ती राजाओं के नामों का उल्लेख किया है जिसका अभिप्राय यह है कि उस समय छोटे-छोटे अनेक राजाओं के होते हुए भी भारतवर्ष एक ही देश था।

विष्णुपुराण का निम्नलिखित श्लोक भी उसी परम्परा का द्योतक है—

> 'गायन्ति देवाः किल गीतकानि
> धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।

स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते
भवन्ति भूय पुरुषा सुरत्वात् ॥' (विष्णुपुराण)

देवता भी स्वग म यह गीत गाते हैं धन्य हैं वे लाग जो भारत भूमि म उत्पन्न हुए हैं। यह भूमि स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि वहाँ स्वर्ग और अपवर्ग दोनों की साधना हो सकती है। देवता लोग भी भारत भूमि मे उत्पन्न होने की कामना रखते हैं जिससे वह अपवग प्राप्त करने का उपाय कर सकें।

उस समय की परम्परा का अधिक स्पष्टीकरण वायुपुराण म किया गया है। उसम भारत की सीमाओं का निम्नलिखित वर्णन है—

उत्तर यत्समुद्रस्य हिमवद्दक्षिण च यत् ।
वर्ष यद् भारत नाम यत्रयं भारती प्रजा ॥' (वायुपुराण)

जो हिमालय के दक्षिण और समुद्र के उत्तर म है उस वर्ष (देश) का नाम भारत है। उसकी प्रजा भारतीय प्रजा कहलाती है। वायुपुराण में 'भारत शब्द की जो व्याख्या की है वह भी अंकित करने योग्य है। वायुपुराण का श्लोक है—

भरणाच्च प्रजानां च मनुभरत उच्यते ।
निरुक्तवचनाच्चैव वर्ष तद्भारत स्मृतम ॥'

प्रजा का भरण करने के कारण मनु की एक संज्ञा भरत भी है। इसी निर्वचन के कारण मनु का देश भारत कहा जाता है। 'भारतवर्ष शब्द की यह व्युत्पत्ति भी सम्भव है।

ऊपर दिये हुए सब उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन समय में भारत की मौलिक एकता स्वत सिद्ध मानी जाती थी। उसे सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं थी। अनेक छोटे-छोटे राज्य अथवा गणतन्त्रों के रहते भी वह देश एक था और इसलिये भारतीय राष्ट्र भी एक था उसी का नाम भारती प्रजा' था।

महाराज युधिष्ठिर ने दिग्विजय करने के पश्चात् जो राजसूय यज्ञ किया उसम युधिष्ठिर का अभिनन्दन करते हुए भीष्म पितामह ने कहा था।

"एतद्भगुरुभार भारत, वयमद्य तव वर्तते वने।'

यद्यपि यह प्र माघ काव्य म भाये हैं तो भी इन्हें हम इस देश की परम्परा का सूचक मान सकते हैं। भीष्म पितामह कहते हैं 'हे साम्राज्य का बोझ उठाने वाले राजन ! भाज यह सारा भारत तुम्हारे वश में है।

इस देश की मौलिक एकता का सबसे पुष्ट प्रमाण यही है कि चक्रवर्ती राजा भाये भौर चले गये युगों पर युग बीत गये नये-नये विजेताओं ने इस एकता को कई बार तोडने-फोडने का यत्न किया परन्तु भारत की एकता नष्ट न हुई। वह भाज भी भक्षुण्ण है। नाम बदल गये परन्तु नामी एक ही रहा। स्पष्ट है कि भारत की इस एकता का भाधार न कोई एक भाषा थी भौर न एक राज्य था। भाषाएँ भी भनेक थीं भौर राज्य भी भनेक थे। एकता का भाधार थी एक सस्कृति। वही सस्कृति भारत की एकता भौर महत्त्व का मुख्य भाधार है।

भारतीय सस्कृति का अटूट प्रवाह

भारतीय सस्कृति के इतिहास की यह विशेषता है कि उसका प्रवाह कहीं टूटा नहीं। जैसा कि इस पुस्तक के भगले भध्यायों म स्पष्ट होगा भारतीय सस्कृति का प्रारम्भ बहुत ही प्राचीन भूतकाल म हुआ था। तब से भब तक उस पर भनेक प्रकार के प्रभाव पड़े हैं भौर भाघात भी पहुँचे हैं परन्तु वे उसके प्रवाह को तोडने म सफल नहीं हुए। जैसे कोई बडी नदी भनेक छोटी नदियों भौर नालों के पानी को भपने में समेटती हुए बहती चली आती है वैसे ही भारतीय सस्कृति की धारा निरन्तर चलती गई है। वह कहीं टूटी नहीं।

ससार म ऐसे दृष्टान्तो का भभाव नहीं जिनमें सस्कृति की शृखला टूट गई है। मसोपोटामिया बैबीलोनिया भादि देशों की सस्कृति का इतिहास भत्यन्त पुराना है। उसकी जडें भी बहुत प्राचीन काल म सन्निहित हैं। उन देशों की प्राचीन सस्कृति सदियों तक निरन्तर विकसित होती रही परन्तु ईसा की सातवीं शताब्दी म इस्लाम के भाक्रमणों के सामने वह न ठहर सकी भौर भब केवल खण्डहरों भौर प्राचीन पर

म्पराओं के रूप में विद्यमान है। इसी प्रकार ग्रीस और रोम की पुरानी संस्कृतियों के प्रवाह को भी ईसाइयत की बाढ़ में बह जाना पड़ता। उनकी कोई स्वाधीन सत्ता न रही। परन्तु इसके विपरीत भारत की संस्कृति की परम्परा अनेक बाहरी आक्रमणों और प्रभावों को सहती हुई कभी उनका विरोध करती और कभी उन्हें अपने अन्दर जज़ब करती हुई आगे ही आगे बढ़ती गई। प्राचीन काल में कई विदेशी जातियों के आक्रमण हुए। परन्तु वे चिरस्थायी नहीं रहे। उनका विशेष प्रभाव न यहाँ की राजनीति पर ही पड़ा और न संस्कृति पर ही। यूनानियों को भारत ने कुछ दिया और कुछ लिया। हूण शकादि जातियों से लिया तो नाममात्र अधिकतर तो दिया ही। इस आदान प्रदान से भारतीय संस्कृति का पोषण ही हुआ। उसमें किसी प्रकार की निर्बलता नहीं आई। दो आक्रमण बहुत जोरदार हुए। ८वीं शताब्दी के आरम्भ में इस्लाम का और १८वीं शताब्दी में ईसाइयत का। ये दोनों आक्रमण दुधारे थे। एक धार राजनीतिक थी और दूसरी धार्मिक। आक्रान्ता तलवार और संस्कृति—इन दो शक्तियों को लेकर आये थे। दोनों में से पहली कुछ समय के लिये पूरी तरह सफल हो गई परन्तु दूसरी आंशिक रूप में भी सफल नहीं हुई। जिस ईसाइयत और इस्लाम ने योरुप अफ्रीका और एशिया के अनेक देशों से उनकी संस्कृति के पुराने रूप को सर्वथा नष्ट करके नया रूप दे दिया वे भारत की संस्कृति के केवल सीमाप्रान्त को छू सके उसके कलेवर में न घुस सके। १९४७ में जब अंग्रेज भारत को छोड़कर गये तब भी उसकी अनेक सामयिक परिवर्तनों से सुसज्जित संस्कृति उसी अपने निज रूप में विद्यमान थी जिसमें वह युग-युगान्तरों से चली आई है। उस पर कई दाग थे और शायद कहीं आघातों के कारण छोटे-मोटे गढ़ भी पड़ गये हों परन्तु उसका शरीर वही था और रूप भी लगभग वही था।

क्या कारण है ? उनके समझने के लिए भारतीय संस्कृति की उन विशेषताओं को जान लेना अत्यन्त आवश्यक है जो उसे अन्य देशों की संस्कृतियों से पृथक करती है। जो व्यक्ति हमारी संस्कृति की उन विशेषताओं को ध्यान में नहीं रखेगा वह युग-युगान्तरों में हुई उसकी गतिविधि को नहीं पहिचान सकेगा।

(१) उदार दृष्टिकोण—भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रारम्भ से ही उसका दृष्टिकोण बहुत उदार रहा है हमारी संस्कृति की आधारशिला वेदों पर आश्रित है। वेदों की प्रार्थनाओं और स्तुति वाक्यों का दृष्टिकोण इतना उदार है कि विदेशी आलोचक भी उसे देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं।

वेदों में अनेक आध्यात्मिक और भौतिक शक्तियों की स्तुति की गई। आजकल के इतिहास शास्त्री उसे अनेक देवतावाद के नाम से पुकारते हैं। उस अनेक देवता का स्वरूप ऋग्वेद के इस मन्त्र से प्रकट होगा—

"इन्द्रम्मित्रं वरुणमग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्राबहुधावदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

वह तेज स्वरूप एक है। विद्वान् लोग उसे इन्द्र मित्र वरुण अग्नि दिव्य सुपर्ण गरुत्मान् यम मातरिश्वा आदि नामों से पुकारते हैं। देवतावाची शब्द अनेक हैं परन्तु उनका वाच्य अर्थ एक ही है। उसकी स्तुति या उपासना किसी नाम से करो वह उसी परमदेव तक पहुँचेगी।

इसी उदार दृष्टिकोण का भारत के उत्तरवर्ती धार्मिक तथा सामाजिक साहित्य में विकास हुआ। एक भक्त ने कहा है—

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसा मर्णव इव॥

हे प्रभु ! जैसे सब नदी-नाले अनेक मार्गों से होकर समुद्र तक पहुँच जाते हैं वैसे ही भिन्न-भिन्न नामों से की गई देव-स्तुतियाँ अन्त में तुझ तक ही पहुँच जाती हैं। यह भारतीय उदार दृष्टिकोण का एक नमूना है।

— पूर्व और पश्चिम के विद्वान् इस तथ्य पर एकमत है कि ससार की सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद है। ऋग्वेद मे धर्म के सम्बध म जो उदार दृष्टिकोण दिखाई देता है, अनेक बाधाओं के आने पर भी भारतीय सस्कृति का वही पथदर्शक रहा है।

(२) लचकीलापन—भारतीय सस्कृति की दूसरी विशेषता यह है कि उसम आश्चर्यजनक लचकीलापन है। लचकीलेपन का प्रसिद्ध दृष्टान्त रबर है। रबर को आप खेंच लीजिये और दबा दीजिए। वह खिंच जायगा और दब जायगा। परन्तु फिर जसा था वसा ही हो जायगा। भारतीय सस्कृति में यह विशेष गुण है कि वह खिंच या दबकर भी टूटती नही कारण हटने पर फिर अपनी स्वाभाविक दशा में आ जाती है। इसी प्रकार मनुष्यो और मनुष्य समूहों म भी एक प्रकार का लचकीलापन पाया जाता है। वह उन्हें चोटो या धक्कों के कारण टूटने से बचाता है। भारतीय सस्कृति की प्रारम्भ से ही यह विशेषता रही है कि वह बाह्य आघातों के कारण झुक या दब तो जाती है परन्तु टूटती नहीं और आघात का कारण हट जाने पर फिर पुरानी अवस्था में आ जाती है। इगलैंड के महाकवि मथ्यू आर्नल्ड ने भारत पर सिकन्दर के आक्रमण के परिणामों का उल्लेख करते हुए कहा है कि जब पश्चिम से आँधी आई तो पूर्व उसके सामने अत्यन्त तिरस्कारपूर्वक झुक गया परन्तु ज्योही वह आँधी निकल गई पूर्व ने फिर सिर उठा लिया और पहले की भाँति धाही चाल से चलने लगा। भारत की सस्कृति का यह लचकीलापन उसे बाहर से आने वाली आपत्तियों स सदा बचाता रहा है।

(३) अपना बना लेने की शक्ति—भारतीय सस्कृति मे बाहर की सस्कृति के अगो और विचारधाराओं को अपना लेने की अद्भुत शक्ति है। यह शक्ति उसके स्वाभाविक उदार दृष्टिकोण का परिणाम ह। इतिहास का अध्ययन हम बतलायेगा कि बहुत प्राचीन काल से हमारी सस्कृति ने सम्पर्क के आई हुई द्राविड यूनानी सीथियन इस्लामी और क्रिश्चियन सस्कृतियो के अनेक अशों को अपना अग बनाने म देर नहीं

लगाई। भाव और भाषा दोनों को इतना अपना बना लिया कि उन्हें अलग करना असम्भव है। धर्म और भाषा के इतिहास के अध्ययन से हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि भारत की संस्कृति ने अपने पास आने वाली संस्कृतियों को जितना कुछ दिया है निस्संकोच होकर उतना ही लिया भी है।

इस समय भारत के विभिन्न प्रान्तों में विद्यमान जातियों और भाषाओं के सम्मिश्रण पर दृष्टि डालें तो हम भारतीय संस्कृति की ग्रहण शीलता में कोई शक ही नहीं रहता। जातियों की जाँच-पड़ताल से पता चलता है कि इस समय देश के निवासियों को जातियों की पाँच श्रेणियों में बाँटा जा सकता है।

(क) भारतीय आर्य श्रेणी जो मुख्य रूप से काश्मीर पंजाब और सिन्ध में फैली हुई है।

(ख) तुर्की ईरानी श्रेणी जो देश के पश्चिमोत्तर प्रदेश में सिन्ध से पश्चिम की ओर पाई जाती है।

(ग) सीथियन द्राविड श्रेणी जिसकी गुजरात सौराष्ट्र में बहुतायत है।

(घ) भारतीय द्राविड श्रेणी जिसके नमूने उत्तर प्रदेश और बिहार में विशेष रूप से प्राप्त होते हैं।

(ङ) विशुद्ध द्राविड श्रेणी जो अधिकतर दक्षिण में उपलब्ध होती है।

(च) आसाम भूटान और नेपाल में जिस श्रेणी के लोगों की अधिकता है उसे मंगोलियन श्रेणी कहा जाता है। परन्तु वह वस्तुतः आर्य श्रेणी और मंगोलियन श्रेणी का मिश्रण है।

(छ) छठी श्रेणी में बंगाल और उड़ीसा के निवासियों की गणना है। इस श्रेणी में परस्पर यह भेद है कि जहाँ च श्रेणी में मंगोलियन अंश की प्रधानता है वहाँ छ श्रेणी में आर्य अंश मुख्य है।

जिस प्रकार विभिन्न जातियों का यह मिश्रण भारतीय विशेषता है इसी प्रकार भारत की भाषाओं का मिश्रण भी उसकी अपनी ही वस्तु है।

भारत में भाषायें अनेक हैं और भिन्न श्रेणियों से सम्बन्ध रखती हैं परन्तु प्राय सभी प्रान्तों में वह एक दूसरे से मिल गई हैं। आप उत्तर से दक्षिण की ओर जाइये तो प्रत्येक भाषा अपनी पड़ौसी भाषा से मिश्रित हुई पाई जायगी। परिणाम यह है कि यद्यपि दूर जाकर एक भाषा दूसरी से बहुत दूर हुई प्रतीत होती है परन्तु यदि सारी शृंखला का ध्यान से अध्ययन करें तो सब एक-दूसरे से सम्बद्ध दिखाई देंगी। पंजाबी दिल्ली लखनऊ की उर्दू मिश्रित हिन्दी, अवधी हिन्दी बिहार हिन्दी गुजराती मराठी कन्नड आदि तथा उड़िया बंगला आदि सब भाषाओं का क्रमश मिलान करते जाएं तो हम उन्हें परस्पर बड़े गहरे सूत्र से बंधा हुआ पायेंगे। और सबसे प्रबल सूत्र जो सोने की शृंखला की तरह उन्हें परस्पर जोड़ रहा है वह संस्कृत भाषा का सूत्र है। संस्कृत भाषा ने काश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत की सब श्रेणियों को एक प्रबल सांस्कृतिक माला में पिरो रखा है। भारत की यह विशेषता भारतीय संस्कृति के उदार दृष्टिकोण उसके लचकीलेपन और आदान प्रदान शक्ति का परिणाम है।

(४) आध्यात्मिकता—भारतीय संस्कृति की अन्तिम परन्तु सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि नई-नई परिस्थितियों के कारण कभी-कभी थोड़ा-बहुत परिवर्तन होने पर भी उसका मुख्य आधार सदा आध्यात्मिक रहा है। यहाँ तप को शस्त्र-बल से सत्य को चालाकी से और धर्म को अर्थ से सदा ऊँचा स्थान दिया जाता रहा है। आदि से लेकर वर्तमान काल तक जितने आचार्य हुए हैं उन्होंने 'अहिंसा परमो धर्म' को अपना मूलमन्त्र बनाया है। यद्यपि अत्याचारियों और पापियों के दमन के लिये क्षत्रियों को युद्ध करने का अधिकार दे दिया गया था परन्तु वह हिंसा नहीं मानी जाती थी। उसका उद्देश्य आत्म रक्षा था। अपने स्वार्थ-साधन

के लिये दूसरे को पीड़ा देना या उसकी हत्या करना भारत की संस्कृति में सदा महापाप माना गया है।

आध्यात्मिकता हमारे देश की पुरानी शिक्षा प्रणाली में प्रतिबिम्बित थी। आचार्यों के पास रहकर जाति के बालक जिन आश्रमों में शिक्षा प्राप्त करते थे वे नगरों के बाहर प्रकृति की मधुर गोद में बने होते थे और उनमें गुरुओं की देख रेख में छात्र लोग ब्रह्मचारी रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। समाज में वही लोग आदर पाते थे जो सदाचारी और तपस्वी हों।

ये हैं विशेषताएँ जिन्हें ध्यान में रखकर हम यदि भारतीय संस्कृति के इतिहास और वर्तमान का अध्ययन करें तो उन्हें समझना सुगम हो जायगा। यदि इस दृष्टि से न रखकर अध्ययन किया जाय तो कई जगह क्रम टूटता दिखाई देगा तो कई स्थलों पर ऐसी समस्याएँ खड़ी दिखाई देंगी जिनका हल करना कठिन प्रतीत होगा।

तीसरा अध्याय

भारतीय संस्कृति का जन्म

हिमालय पर—भूमण्डल पर मनुष्य-सृष्टि कहाँ आरम्भ हुई यह प्रश्न अब तक विवादग्रस्त है। कुछ विद्वान् आदि सृष्टि का आरम्भ ध्रुव देश से मानते हैं, तो कुछ उसे मध्य एशिया में तलाश करते हैं। हम भूमण्डल के प्रश्न को पृथक रखकर इस प्रकरण का प्रारम्भ उस समय से करते हैं जब भारत में मानव ने सामाजिक जीवन आरम्भ किया। यह सर्वसम्मत-सी बात है कि मनुष्य जाति के साहित्य में सबसे पुरानी और पहली शब्द रचना वेद है। जो पुराने लोग वेद की ऋचाओं को ही अपना मार्गदर्शक मानते, और उन्हीं में प्रभु और प्रकृति का गान करते थे उनका सामूहिक नाम आर्य था। हमारे पास यह मानने के लिए बहुत पुष्ट और पुष्कल प्रमाण है कि उन आर्यों का प्रारम्भिक निवास-स्थान हिमालय की ऊँची घाटियों में और हिमाच्छादित चोटियों पर था। भारत के इतिहास का पहला परिच्छेद कश्मीर और तिब्बत के ठण्डे और सुहावने पर्वतों तथा मैदानों में लिखा गया था। यही वह प्रदेश थे जिन्हें उत्तरकालीन आर्य "स्वर्ग" 'नाक' आदि नामों से पुकारा करते थे।

उस समय आर्यों का जीवन अत्यन्त सरल और अछूता था। अन्य किसी सभ्यता या संस्कृति का प्रभाव उस पर नहीं पड़ा था। उस पर कृत्रिमता का लेप नहीं था।

वे लोग अपने नेता व राजा को इन्द्र नाम से पुकारते थे। शीत स्थान होने के कारण अग्नि और सूर्य से उन्हें अत्यन्त प्रेम था। वे परमात्मा को उन सब नामों से सम्बोधित करते थे जो आदरसूचक थे। वे उसमें मनुष्य और प्रकृति के सब गुणों का मूलस्रोत देखते थे।

उनमें जो शासन प्रणाली प्रचलित थी उसे न राजसत्तात्मक कह

सकते हैं, और न प्रजासत्तात्मक। उसका यदि कुछ नाम रखना ही हो तो हम उसे 'गुणतन्त्रात्मक' शासन प्रणाली कह सकते हैं। जो सौ बार निर्विघ्न यज्ञ कर ले और शत्रुओं को परास्त करने की शक्ति रखता हो वही स्वर्ग का राजा इन्द्र बन सकता था, दूसरा नहीं। कभी-कभी नहुष जैसे अयोग्य व्यक्ति भी राजा बनने का यत्न करते थे परन्तु वे स्वर्गवासियों के लोकमत द्वारा अधिकार च्युत कर दिये जाते थे। इन्द्र वही बनता और वही रह सकता था जो धर्म बल और क्षात्र बल दोनों में सबसे अधिक हो। इस प्रणाली का उपयुक्त नाम गुणतन्त्र प्रणाली ही हो सकता है।

सप्तसिन्धु में—आर्य लोग हिमालय की घाटियों से उतरकर सप्त सिन्धु के मैदान में कब आए, इसका हिसाब लगाना इस समय तो असम्भव ही है। पृथ्वी के गर्भ से तथा ऊपर के अवशेषों से जितने हिसाब लगाए गए हैं वे उस काल तक नहीं पहुंचते जिसमें आर्य लोगों के जत्थे स्वर्ग की ऊंचाई को छोड़कर पृथ्वी के समतल पर आने और फैलने लगे थे। वह समय सदियों पुराना नहीं युग-युगान्तर पुराना हो गया। उसकी इयत्ता अभी तक वैज्ञानिक अन्वेषण भी नहीं लगा सका।

यद्यपि उस समय की सीमा नहीं जानी जा सकती तो भी उसका एक धुंधला-सा चित्र हम अपनी आँखों के सामने ला सकते हैं। उस समय सप्तसिन्धु का प्रदेश वह कहलाता था जो भारत के वर्तमान चित्र में सिन्ध नदी से आरम्भ होकर गंगा पर समाप्त होता है। प्रदेश का 'सप्तसिन्धव' यह नाम जिन नदियों के नाम पर पड़ा वे निम्नलिखित थीं : सिन्धु, वितस्ता, असिक्नी, पुरुष्णी, आर्जिकी या शतद्रु, सरस्वती, दृषद्वती, यमुना और गंगा। उस समय की नदियाँ नहीं थीं। उनका आकार प्रकार छोटा था, जिसका निम्नलिखित कारण था—

उस युग में जहाँ अब राजपूताना है, वहाँ समुद्र था, जो हिमालय के साथ-साथ विन्ध्याचल तक फैला हुआ था। हिमालय से उतरकर आर्य लोग सप्तसिन्धु के उपजाऊ और सुन्दर मैदान में आये और समयान्तर में सारे प्रदेश पर विजयी होकर बस गये।

सप्तसिंधु देश में आर्य लोग कितनी शताब्दियों तक रहे और कब उसके आगे बढ़न लगे इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर भी अभी इतिहास नहीं दे सकता। हाँ, वह जब सप्तसिंधु म रहते थ तब उनकी धार्मिक सामाजिक और राजनीतिक दशा क्या थी और उसम कालान्तर म कसे क्रमे परिवतन हाने रहे य बातें हम तत्कालीन साहित्य म जान सकते हैं।

हिमालय की घाटिया म रहन के समय आर्यों की जो सभ्यता या संस्कृति थी उस हम विशुद्ध वदिक सभ्यता का नाम दे सकते हैं। उसमें मनुष्य मुख्य रूप से दो मार्गों म बँटे हुए थ—एक सुर या देव दूसरे असुर। जो धम और ऋत के बन्धन म बधे हुए पुरुष थे वे सुर या देव और जो उनके विरोधी थ वे असुर दस्यु या दास कहलाते थ। कालान्तर म राक्षस शब्द भी असुरा क लिय प्रयुक्त होने लगा।

मदान म आकर आर्यों का राजनीतिक और सामाजिक अवस्था में परिवतन होने स्वाभाविक थ। जलवायु के परिवतन स उनमे शारीरिक परिवतन भी होने लगे। हिमाच्छादित पवतो पर या ऊँची घाटियो पर रहते हुए उनके रंग श्वेत थे रूप सुन्दर थे प्रकृति की गोद म निवास करने के कारण नृत्य संगीत कविता आदि में उनकी प्रवृत्ति अधिक थी। अपेक्षाकृत गम स्थान म आकर उनके रंग-रूप और व्यवहार म स्वभावत परिवतन आने लगे। सामाजिक और राजनीतिक संगठन का विकास होना भी स्वाभाविक था। अब केवल एक इन्द्र राजा नही रहा उसके स्थान पर अनेक राजा अनेक नगर और अनेक वश हो गय। वर्णों का भेद भी स्थूल रूप में आ गया। उसकी दृढता नष्ट होकर घनता आ गई। यह काल उत्तरकालीन वदिक साहित्य म चित्रित है। हम उसका बहुत कुछ विशद चित्र ब्राह्मण ग्रन्थों म देख सकते हैं।

"सप्तसिंधु" क निवासी आर्य हिमालय क निवासियों को देवतासुर आदि नामों स पुकारते थ। सुरलोक की सुन्दर स्त्रियाँ अप्सरा कहलाती थी। व अपने उन छोड़े हुए मूल पुरुषों को बड़े आदर और पूज्य भाव से देखते थ। कभी आड़े वक्त पर भूलोक क राजा स्वर्गलोक के निवासियों

की सहायता के लिये उस लोक की यात्रा भी किया करते थे। परन्तु सामान्यरूप से नारद मुनि जैसे पर्यटनशील तपस्वियों के अतिरिक्त देवलोक और मृत्युलोक का परस्पर सम्बन्ध धीरे धीरे शिथिल हो गया था। केवल इतना शेष रह गया था कि आर्यलोक के निवासी देवलोक के महापुरुषों से अपने वंशों का उद्भव बतलाने में गौरव का अनुभव करते थे। इस प्रकार भौतिक सम्बन्ध के बहुत कुछ शिथिल होने पर भी दोनों लोकों की संस्कृति-परम्परा बराबर विद्यमान रही। इसमें सन्देह नहीं कि पूर्वकालीन वैदिक संस्कृति की अविच्छिन्न उत्तराधिकारिणी उत्तरकालीन वैदिक संस्कृति ही थी।

प्रारम्भ काल में ही आर्य जाति की अनेक टुकड़ियाँ भूमि के भिन्न भिन्न भागों की ओर चलने लगी थीं। प्रतीत होता है कि इसके दो कारण थे। प्रथम और मुख्य कारण तो जनसंख्या में वृद्धि थी। अटूट प्राकृतिक नियम के अनुसार जनसंख्या निरन्तर बढ़ती गई यहाँ तक कि पर्वत की गोद उन सबको अपने अन्दर न सँभाल सकी। स्थान और वस्तुओं की कमी के कारण आर्यों के जत्थे भूतल पर उतरकर फैलने लगे। कुछ जत्थे सप्तसिन्धु में आये और कुछ जत्थे मध्य एशिया की ओर बढ़े। वे जत्थे बढ़ते हुए एक ओर ईरान और दूसरी ओर योरुप के अनेक प्रदेशों तक पहुँच गये। कुछ इतिहास-लेखकों ने यह भी अनुमान लगाया है कि धार्मिक मतभेद के कारण बहुत से आर्य अलग होकर ईरान आदि की ओर चले गये। यह कल्पना पूरी तरह सत्य हो अथवा केवल अंशतः सत्य हो यह बात निश्चित है कि आर्य जाति का उमड़ता हुआ जल प्रवाह सुरसक्त और असुरसक्त इन दो भागों में उस समय बँट गया था जब आर्य लोग नाकलोक से उतरकर भूलोक में बसने लगे थे।

सिन्धु के तट पर—अभी लगभग १२ वर्ष पूर्व सिन्धु नदी घाटी में मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा के समीप पुराने नगरों के जो दबे हुए अवशेष मिले थे, उन्होंने इतिहासकारों का ध्यान सुदूर पूर्वकाल की ओर खेंच दिया था। उसके पश्चात् शिमला की पहाड़ियों में भी कुछ वैसे ही अव

शेष मिले हैं। अनुमान लगाया गया है कि वे अवशेष न्यून-से-न्यून ५ ५०० वर्ष पुराने हैं। जसे अवशेष भारत के उत्तरीय भाग म मिले हैं वसे ही अफ्रीका के कई प्रदेशों म भी प्राप्त हुए हैं। समझा जाता है कि वे किसी ऐसी सभ्यता के चिह्न हैं जिसका प्रभाव किसी समय भूमि पर बहुत दूर दूर तक फला हुआ था। यह सम्भव है कि सप्तसिंधु के प्रदेश मे आने पर आर्यों को उसी सभ्यता से टकराना पड़ा हो। वह सघर्ष बहुत लम्बा रहा होगा क्योंकि उन अवशेषो की परीक्षा से प्रतीत होता है कि वह काफी बढी चढी थी। वे लोग पक्की इटो के मकानो मे रहते थ उनके मकानो म कुएँ थे और स्नानागार थे। नगरो की सडक चौडी होती थी। गन्दा पानी निकालने के लिये नालियाँ बनी रहती थी। वे कुशल कृषिकार थे और व्यापार मे भी निपुण थे। व लोग देवी देवताओं की मूर्ति बनाकर उनकी पूजा करते थे। उनके मुख्य देवता की मूर्ति को देखने से प्रतीत होता है कि वे शिवजी की मूर्ति से मिलती जुलती किसी मूर्ति की पूजा करते थ। उस समय की मुहरों और शिलाओं का दखन स विदित होता है कि वे कुशल कलाकार भी थे और लिखना-पढना जानते थे। उनके युद्ध के उपकरणों से अनुमान लगाया गया है कि वे कुशल योद्धा थे।

यह कहना तो कठिन है कि ये लोग कहाँ से और कब आकर सिन्धु की घाटी मे बसे परन्तु यह असन्दिग्ध है कि ये ५ हजार वष से कम पुराने नहीं हैं। उनके अवशेषो को देखकर इसमें सन्देह नही रहता कि उनकी सस्कृति भारतीय थी। आप उसे भारतीय सस्कृति की एक शाखा कह सकत हैं परन्तु वह थी भारतीय ही और यह भी मानना पडेगा कि हिमालय से उतरकर पजाब प्रदेश म फले हुए आर्य सघर्षों से लम्बा सघर्ष होने पर भी वह सस्कृति आर्य सस्कृति म घुल मिल गई। उनके धार्मिक रीति रिवाजों और कलाओं का जो मिश्रण हुआ उसने भारत की सस्कृति को अत्यन्त समृद्धशाली बना दिया। वह मिश्रण हमारी सस्कृति के लचकीलेपन और ग्रहणशीलता का एक सुन्दर नमूना था।

चौथा अध्याय

वेद और वैदिक काल

भारतीय संस्कृति का इतिहास वेदो से प्रारम्भ होता है। समय के साथ-साथ उसमे परिवर्तन होते गये। कुछ परिवर्तन अन्दर से हुए, और कुछ परिवर्तन बाहर के प्रभाव से हुए परन्तु उसका मूल आधार वही विचार-परम्परा रही जिसका प्रारम्भ वेदो से हुआ था।

वेद चार हैं—(१) ऋग्वेद (२) यजुर्वेद (३) सामवेद और (४) अथर्ववेद।

ऋग्वेद का विषय ज्ञान है और उसकी प्रतिपादन शैली 'स्तुति' या स्वरूप वर्णन है। वेद-मन्त्रो को ऋक या ऋचा कहते हैं।

ऋग्वेद—यह चारो वेदो मे बडा है। उसके वर्णित विषयों का दायरा भी बहुत विस्तृत है। उसमे परमात्मा ईश्वर, प्रकृति आदि आध्यात्मिक सूर्य चन्द्र अग्नि वायु भूमि उषा आदि आधिदैविक और जीव मनुष्य आदि आधिभौतिक एव सासारिक सभी विषयों का निर्देश विद्यमान है। उसमे १ ४७२ मन्त्र हैं।

यजुर्वेद—यजुर्वेद का विषय कर्म-काण्ड है। यजुर्वेद मे वर्णित कर्म के दो भाग हैं—एक मनुष्य के जीवन सम्बन्धी नित्य नैमित्तिक कर्म और दूसरे विविध यज्ञ। इस वेद का अन्तिम ४०वा अध्याय ईशोपनिषद् के नाम से विख्यात है। वह भगवद्गीता के कर्मयोग सिद्धान्त का आधार है। धर्मशास्त्र व इतिहास मे उसका असाधारण महत्त्व है।

समयान्तर मे यजुर्वेद की दो शाखायें हो गईं एक कृष्ण यजुर्वेद दूसरी शुक्ल यजुर्वेद। दोनों मे भेद यह है कि शुक्ल यजुर्वेद मे छन्दों के साथ गद्यात्मक मन्त्र भी हैं। यजुर्वेद मे १ ६७५ मन्त्र हैं।

सामवेद—यह वेद वस्तुत ऐसे स्तुतिपरक मन्त्रों का सग्रह है, जो

गाय जा सक्ते हैं। इसम सब मिलाकर १ ८७५ ऋचायें हैं, जो प्राय ऋग्वे से ली गई हैं।

अथववेद—इस वे में आयुर्वे राजधम तथा अन्य व्यावहारिक विद्याओ स सम्बन्ध रखन वाले मन्त्रो की अधिकता है। कुछ आध्यात्मिक मन्त्र भी हैं। उस समय की सामाजिक तथा राजनीतिक दशा को जानने क लिये अथववेद के मन्त्र अत्यन्त उपयोगी हैं। इसके मन्त्रों की सख्या ५ १७० है। उनमें से लगभग १ २ ० मन्त्र ऋग्वे से लिय गय हैं।

चारों वेद और विशेष रूप से ऋग्वे और अथवव म हमें एक ऐसे समाज का लगभग पूरा चित्र प्राप्त होता है जिसक सब अग पुष्ट और समृद्ध हो चुके थे और जिसकी सस्कृति विकास पा चुकी थी। वदों को 'देवस्य काव्यम्' भगवान् का काव्य कहा है। वे छन्दोबद्ध हैं। इससे यह बात तो स्पष्ट ही है कि वदिक काल के आय लोगो की कल्पना बहुत घनी होगी। वे ससार की सब वस्तुओ को आश्चय से देखत होंगे और उन पर गहराई स विचार करते होंगे। वेदो म जहाँ एक ओर प्रकृति की सूर्य चन्द्र उषा वायु, मघ आदि सब शक्तियों के और एक दूसरी पर उनकी प्रतिक्रियाओ के विस्तृत वणन हैं वहाँ दूसरी ओर उन सब क बनाने और चलाने वाल परम पुरुष ईश्वर का हिरण्य गर्भ ब्रह्म 'एको देव इत्यादि नामों स निर्देश और विस्तारपूवक व्याख्यान है। साथ ही ससार के व्यवहार की आवश्यक विद्याओ की भी चर्चा है। युद्ध और शासन की कलाओं का भा निर्देश है। साराश यह कि वेदों की प्रायनाओं और स्तुतियों मे स जो सस्कृति प्रतिभासित होती है वह एक जीती-जागती प्रगतिशील सस्कृति है।

आध्यात्मिक विचार—वेदा के आध्यात्मिक विचारो का सार यह है कि जगत् की सब भौतिक और मानवी शक्तियाँ सम्मान के योग्य हैं और उनका मनन करना चाहिए, और सबसे अधिक सम्मान और मनन के योग्य परमदेव ब्रह्म है जो सब शक्तियो का उत्पन्न करनेवाला और सचालक है।

धर्म—वेद-मन्त्रों में जिस धर्म का विधान है उसका आधार 'ऋत' और 'सत्य' है। अहिंसा यज्ञ आदि को परम धर्म माना गया है।

सामाजिक संगठन—समाज का संगठन श्रम विभाग के सिद्धान्त के अनुसार किया गया था और उसे मनुष्य के शरीर के दृष्टान्त से समझाया गया था। पुरुष सूक्त में समाज के शरीर के मुख अर्थात् विचारकों और व्याख्याकारों को ब्राह्मण, बाहु के समान रक्षकों और शासकों को क्षत्रिय, शरीर के मध्य भाग समाज सम्पत्ति को पचाकर सारे शरीर में बाँटने वाले व्यापारियों तथा कृषिकारों को वैश्य और शारीरिक परिश्रम और सेवा भाव द्वारा समाज के सब कार्यों का निर्वाह करने वाले श्रमी लोगों को शूद्र नाम से निर्दिष्ट किया गया है। इस वर्ण विभाग के होते हुए भी विशेष बात यह है कि वेदों में प्रत्येक पेशे में काम करने वालों को समान रूप से नमस्कार और आदर के योग्य माना गया है।

आश्रम व्यवस्था—वेदों में ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम की विशद चर्चा पाई जाती है। ब्रह्मचर्य को अमर पद की प्राप्ति का और इस लोक में शक्ति का आधार बतलाया गया है। यह विधान किया गया है कि आचार्य (गुरु) भी ब्रह्मचारी हो और शिष्य भी। दोनों संयम का जीवन व्यतीत करते हुए शिक्षा का आदान प्रदान करें।

शिक्षा समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश का समय आता था। ऋग्वेद में कहा है—

"युवा सुवासाः परिवीत आगात्
स उ श्रेयान् भवति जायमानः।"

जो युवा ब्रह्मचारी स्नातक बनकर और सुन्दर वस्त्र पहिनकर दूसरे आश्रम में प्रवेश करता है वह श्रेष्ठ (श्रय से युक्त) होता है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश और उसमें पालन करने योग्य नियमों का वेदों में विस्तार से वर्णन है। गृहस्थ के पश्चात् वानप्रस्थ और संन्यास का यद्यपि वेदों में नाम से निर्देश नहीं तथापि यतिधर्म का अनेक स्थानों में उल्लेख है। इन दो आश्रमों की विस्तृत चर्चा ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में है।

आर्थिक स्थिति—वैदिक काल में सामान्य लोग पञ्चजन कहलाते थे। पञ्चजन प्रायः दो आजीविकाएँ करते थे—एक पशु-पालन और दूसरी कृषि। सबसे अधिक महत्त्व गौ का था। गौ को वेदों में अघ्न्या (न मारे जाने योग्य) कहा है। गौ, बैल, घोड़ा आदि पशुओं को उत्तम सम्पत्ति 'पशुधन' माना जाता था। प्रभु से उनकी स्वस्थता के लिये प्रार्थना की जाती थी। कृषि तो जीवनाधार थी ही। वे अन्न, कपास आदि के उत्पादन में पर्याप्त कुशल थे। अनेक प्रकार की साधारण कारीगरियाँ भी थी। उनकी चर्चा अथर्ववेद में आती है। बढ़ई, रथकार, कुम्हार, लोहार आदि का व्यवसाय जहाँ एक ओर कृषि के लिये उपयोगी था वहाँ शस्त्रास्त्र बनाने के लिये भी आवश्यक था।

अथर्ववेद में जहाँ व्यवहार सम्बन्धी न्याय विधान किये गये हैं, वहाँ जुए और ऋण के दोष भी बताये गये हैं।

विदेशों से व्यापार—वेदों में अनेक स्थानों पर समुद्र, नौका और अन्य देशों से व्यापार के निर्देश मिलते हैं। देश-देशान्तरों में व्यापार करने वाले व्यापारी पणि नाम से निर्दिष्ट किये गये हैं। आकाश और जल दोनों प्रकार की नौकाओं का वर्णन आता है। कुछ इतिहास लेखक मानते हैं कि क्योंकि वेदों में पतवार लंगर आदि का वर्णन नहीं है अतएव उस समय नौका होती ही नहीं थी। यह तर्क कितना भ्रमात्मक है यह स्पष्ट है। जब सिन्धु, समुद्र और नौका आदि की स्पष्ट चर्चा है तो यह कैसे माना जा सकता है कि न समुद्र था और न नौका थी। तब तो यह मानना पड़ेगा कि क्योंकि रथ या घोड़े के सब अंगों का वर्णन नहीं इस कारण न रथ थे और न घोड़े। वेदों के अध्ययन से यह सन्देह नहीं रहता कि वैदिक काल में समुद्र-यात्रा और विदेश व्यापार का काफी प्रचलन था।

राजनीति और शासन-पद्धति—यदि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के राजनीति सम्बन्धी सब सूक्तों का सावधानता से अनुशीलन किया जाय तो हम निम्नलिखित परिणामों पर पहुँचते हैं—

समाज की राजनीतिक इकाई 'परिवार' था। परिवारों का समूह ग्राम कहलाता था। ग्रामा के समूह का जन शब्द से निर्देश है। जनपद शब्द उसी का विस्तृत रूप है। जिसे आजकल प्रजा' या जनता' के नाम से पुकारते हैं, वेदों म उस के लिये विश् शब्द का प्रयाग है। विश अर्थात् जनता के नेता को 'इन्द्र' कहते थे। यही मुख्य शासक और मुख्य सेनापति होता था। वेदों में उसके निर्वाचन के सम्बन्ध में एक से अधिक सूक्त हैं।

शासन-पद्धति बहुत सुन्दर थी। राजा' सवथा निरकुश नही था। शासन के काय म उसकी सहायता और माग प्रदशन करने के लिये सभा समिति और सेना विद्यमान थी।[1] सभा अनुभवी मंत्रियो की होती थी और समिति जनसाधारण की। आवश्यकतानुसार दोनो के अधिवेशन होते रहते थे। उस समय निरकुश राज्य या साम्राज्य की कल्पना भी विद्यमान नही थी। आजकल की प्रचलित परिमित देश भी का वेदा म अभाव है। उनम 'भूमि' अर्थात् धरती माता का स्तोत्र भी और कुल-कुल मन्त्र भी हैं परन्तु सकुचित देश भक्ति या वग भक्ति कही चर्चा नहीं।

युद्ध—युद्ध के सम्बन्ध म वेदों मे विशेष रूप से ऋग्वेद म बहु सूक्त और मन्त्र हैं। उनका अभिप्राय यह है कि शत्रुओं से युद्ध करने के लिये पचजन अपने नेता या सेनापति का चुनाव और अभिषेक विधिपूर्वक करें। चुनाव वीरता और प्रतिभा के आधार पर हो। कुल या वर्ण की उसमे कोई चर्चा नहीं है। युद्ध में काम आने वाले शस्त्र-श्याण आदि का अनेक बार उल्लेख है। युद्ध के साधन अश्व आदि तथा यज्ञ और युद्ध म उत्साहप्रद सोमरस का कथनोपकथन कई स्थानों पर है। सोम या 'सोमरस' के बारे म कई प्रकार की कल्पनायें की गई हैं। कुछ इतिहास लेखक सुरा और 'सोम' को पर्यायवाचक मानकर यह अनुमान लगा

१ त्रीणि राजानाविदथे पुरुणि परिविश्वानि भूषथः सदांसि। (ऋग्वेद)
तं सभा च समितिश्च सेना च। (अथर्ववेद)

हैं कि वन्कि समय के भाय यराव पाउ थ। वह कल्पना निमूल है। 'सोमरस' एक वन का रस था जो जितना पायक था उतना मान्क नहीं था। वन्कि काल क भाय युद्ध म जाउ समय और यग करते समय सोमरस पाउ थ इसम सन्देह नहीं। यह भी स्वाभाविक ही है कि व युद्ध के समय भपन साथियों को उत्साहित करन क लिय शत्रुओं को ललकारते हों। दुष्ट शत्रुओं क सहार को वन्े म पाप नहीं माना गया। भपितु उसकी कत्तव्य धर्मों में गिनती की गई है।

यन

वेन्ों में यज्ञ शब्न का प्रयान कई अर्थों म भाया है। न्ऋचाओं में इस शब्न का प्रयोग यौगिक ही हुआ है। परमेश्वर ईन्वर गुभकम और अध्वर इन तीनों क कहीं विशेषण रूप म और कहीं पयायवाची क रूप म यन शब्न प्रयुक्त हुआ है। विशप रूप स होम के लिए ही यन शब्न का प्रयोग बहुत पीछे स होन लगा। कुछ इतिहास-लखक इस तथ्य पर ध्यान न देकर वन्कि-काल की संस्कृति के वणन म ही यन शब्न का परिमित प्रयोग कर देते हैं यह भूल है। वेन् का वाक्य है "यन्न यनमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्"। देवताओं न यन द्वारा यन को प्राप्त किया यह सवप्रथम धम थ। यहाँ स्पष्ट है कि यज्ञ शब्न गुभकम और ब्रह्म इन दो का वाचक है। भन्यत्र यज्ञ शब्द का होम क लिय प्रयोग तो सर्वसम्मत-सा ही है।

वेन्ों में जो यज्ञ-परक-मन्त्र हैं उनमें ईन्वर की उपासना शुभकम और होम—इन सब का यथास्थान वणन और विधान है।

यजुर्वेन् का मुख्य विषय यन है। जहाँ उसम यनों में प्रयुक्त होन वाल मन्त्र हैं वहाँ प्राथनापरक मन्त्रों का भी अभाव नहीं है। उसका अन्तिम ४०वाँ अध्याय तो सारे भारतीय कमशास्त्र की आधारशिला ही है। उसी पर भारत के कर्तव्याकत्तव्य-शास्त्र के भवन का निमाण हुआ है।

वेन्ों म होम क अध्वर, याग यज्ञ आन्ि अनेक नाम पाय जाते हैं।

होमयज्ञ का संयोजक यजमान उसकी सहधर्मिणी यज्ञपत्नी यज्ञ कराने वाले अधिकारी होता अध्वर्यु पुरोहित आदि नामों से निर्दिष्ट किये गये हैं। यह स्पष्ट है कि वैदिक काल में वेदों में बतलाये हुए नियमों के अनुसार ही यज्ञ होते थे। परन्तु कुछ लेखकों की यह कल्पना निराधार है कि उस समय वे प्राय केवल होम को ही धर्म मानते थे।

निजू जीवन

यह सर्वसम्मत बात है कि भारतीय धर्म और कर्तव्यशास्त्र का विकास वेदों के आधार पर हुआ इसलिए यह आवश्यक है कि यहाँ उस के कुछ मूलभूत तत्वों का निर्देश कर दिया जाय।

(१) सत्य— सत्यमेव जयते नानृतम् सत्य ही जीतता है झूठ नहीं। इस प्रकार के वाक्यों द्वारा वेदों में सत्य को सर्वोपरि धर्म माना गया है।

(२) अहिंसा— मा मा हिंसी हिंसा मत करो यह उपदेश स्थान स्थान पर मिलता है।

(३) ब्रह्मचर्य और तप— 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत' ब्रह्मचर्य और तप से श्रेष्ठ पुरुष मृत्यु पर विजय प्राप्त करते हैं।

(४) श्रद्धा— श्रद्धया सत्यमाप्यते सत्य श्रद्धा से प्राप्त होता है।

(५) पति और पत्नी के अटूट सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये वेदों में अनुपक्षितौ शब्द का प्रयोग है। वे सदा एक दूसरे के अनुकूल और साथ रहें। यज्ञादि सब कर्मों में पति के साथ पत्नी का रहना आवश्यक था। गृहस्थ-जीवन की सरलता और मधुरता अथर्ववेद के उस मन्त्र से सूचित होती है जिसमें पुरुष कहता है कि मैं गौओं का दूध लाता हूँ। अनाज और रस लाता हूँ। ये हमारे वीर बहादुर सन्तान हैं। यह पत्नी है। यही हमारा घर है। (अथर्व २।२६।५)

(६) पुनर्जन्म—पुनर्जन्म का सिद्धान्त वेदों में ओत प्रोत है। "अथ सजायते पुन यह फिर-फिर पैदा होता है। (अथर्ववेद ११।४।६) इस प्रकार के निर्देश स्थान-स्थान पर हैं।

(७) ब्रह्म ज्ञान से मोक्ष—यह विश्वास वेदों में व्यक्त है कि ब्रह्म के ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु से पार हो सकता है। इस बन्धन से मोक्ष का अन्य कोई उपाय नहीं है।

(यजुर्वेद ३१।१८)

(८) सहिष्णुता—वेदों में सहिष्णुता को बहुत महत्त्व माना गया है। "तेजोऽसि तेजो मयि धेहि" वाला प्रसिद्ध प्रार्थना का मन्त्र "सहोऽसि सहो मयि धेहि" इस वाक्य से होता है। मनुष्य ईश्वर से प्रार्थना करता है कि तुम सहनशील हो मुझे सहनशील बनाओ।

ये धर्म सम्बन्धी कुछ मूलतत्त्व हैं जिनका आज वेदों में विद्यमान है। भारतीय संस्कृति के उत्तरकालीन विकास को समझने के लिये इनको जानना आवश्यक है। उत्तरकाल में कभी-कभी इनमें से कभी एक मुख्य माना जाने लगा तो कभी दूसरा। बाह्य प्रभावों से थोड़े-बहुत परिवर्तन भी होते रहे परन्तु भारतीय संस्कृति की प्रारम्भिक विशेषतायें कभी नष्ट नहीं होने पाईं।

स्त्रियों की स्थिति—वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊँची थी। यज्ञ आदि पवित्र कार्यों में उनका समान रूप से भाग लेना आवश्यक था। पर्दे आदि का कोई चिह्न नहीं था। स्वाभाविक लज्जा को ही स्त्री का धर्म माना जाता था। स्त्रियाँ वेद को न केवल पढ़ती थीं सामवेद भाषा आदि विदुषियों को वेदों का ऋषिकायें तक होने का सम्मान प्राप्त था। वेदों में उनके लिये निर्बलता या अधिकार का सूचक एक भी वाक्य नहीं है। विवाह के समय उन को आशीर्वाद दिया जाता था वह यह था कि 'तू घर की साम्राज्ञी बन'। जिस देश को उस समय सबसे ऊँचा और पवित्र माना जाता था उन्हें "वेद माता" कहा गया था। अभिप्राय यह है कि माता और पत्नी का स्थान वैदिक काल में बहुत ऊँचा था।

असुर दास और दस्यु—यह एक अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्न बना हुआ है कि वेदों में जो असुर दास और दस्यु शब्द आते हैं वे जाति

वाचक हैं या किन्हीं गुणों या दोषों के कारण दिये गये विशेषण मात्र हैं। वेदों के गहरे अनुशीलन से यह प्रतीत होता है कि ये कोई जातिवाचक नाम नहीं थे। सुर श्रेष्ठ को कहते थे। सुर शब्द ऐसा ही था जैसा आर्य शब्द। जैसे आर्य के विरोधी को अनार्य कह सकते हैं वैसे ही सुर के विरोधी को असुर कहा जाता था। दस्यु शब्द का प्रयोग चोर और डाकू के लिये होता था और दास शब्द से उन लोगों का बोध होता था जिन में आर्यत्व न हो। विजिन्वन्दासमार्यम् आदि वाक्यों से यह स्पष्ट सूचित होता है।

वह विजय और संघर्ष का काल था—वेदों में तीन प्रकार के मन्त्र हैं। प्रार्थना मन्त्र है—जैसे 'गायत्री मन्त्र' जिस में समृद्धि की प्रार्थना की गई है। स्तुति मन्त्र है—जैसे 'उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा' उषा विश्वंभर को जगाने वाली है। आदेश वाक्य जैसे 'मागृध कस्यस्विद्धनम्' किसी अन्य के धन की अभिलाषा मत करो। इन तीन प्रकार की वैदिक ऋचाओं में एक असाधारण ऊंचाई, तेजस्विता और विजय की भावना भासित होती है जो एक बढ़ती और फैलती हुई जाति में ही सम्भव है। वही समय था जब भारतीय आर्य हिमालय की घाटियों से उतर सप्त-सिन्धु प्रदेश में फैले। उस फैलाव के लिये संघर्ष अवश्यम्भावी था। उस संघर्ष में प्रतीत होता है कि उन्हें थोड़ी-बहुत कठिनाई भी होती थी और कभी कुछ पीछे भी हटना पड़ा। परन्तु सामान्य रूप से उनकी गति आगे ही आगे रही जिसका परिणाम यह हुआ कि बहुत पूर्व काल में ही वे उत्तरीय भारत के स्वामी हो गये। दक्षिण का भाग उस समय उस समुद्र के कारण अलग सा था जो वर्तमान राजस्थान में फैला हुआ था।

फैलाव दो उपायों से हुआ—विजय से और विलय से। जिन समुदायों ने फैलाव को रोकने के लिये लड़ाई की उन्हें जीता गया और जो साथ आ गये उनका अपने अन्दर विलय कर लिया। अपने अन्दर मिला लेना पुराने आर्यों के स्वभाव का हिस्सा था। कुछ लोगों का विचार है कि सिन्धु घाटी की संस्कृति को आर्य संस्कृति ने नष्ट कर दिया। निश्चय-

पूवक यह बात नही कही जा सकती। लक्षणों से प्रतीत होता है कि सिन्धु सस्कृति आर्य-सस्कृति मे विलीन होकर उसका अग बन गई। सभवत उत्तरकाल म मूर्ति-पूजा के प्रचलित होने का एक कारण यह भी था। मोहेंजोदारो और हरप्पा म जो देवताओ की नग्न मूर्तियाँ और शिवलिंग के समान मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं उन्हें हम अनेक उत्तरवर्ती सम्प्रदायो का पूवरूप कह सकते हैं। वेदो मे इस प्रकार के कोई निर्देश उपलब्ध नही होते। भारतीय धम-परम्परा में उनका प्रवेश सिन्धु घाटी के सम्पक का ही परिणाम प्रतीत होता है।

पांचवां अध्याय

संस्कृति का विस्तार

शाखायें ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थ—हमने वदिक काल की सस्कृति का विस्तृत विवरण इस कारण दिया है कि वस्तुत यही हमारे देश की सस्कृति का मूलरूप है। उसे सामने रखकर हम उन परिवर्तनो को भली प्रकार समझ सकेंगे जो समय-समय पर उसमे होते गये।

शाखाओं का उद्भव—वेद का दूसरा नाम श्रुति है। वेद के मन्त्र सुनकर याद किये जाते थे। इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा से उनकी रक्षा होती थी। जब तक विस्तार की सीमायें सकुचित थी मन्त्रों के शब्दो मे या रचना मे भेद की सम्भावना बहुत ही कम थी। ज्यो-ज्यो जाति फलती गई और उसकी टुकडियाँ एक-दूसरे से दूर होती गइ त्यो त्यो पाठ और रचना मे भेदो की सभावना भी बढती गई। फलत कुछ समय पीछे, यह समय सदियो तक फला हुआ हो सकता है, प्रत्येक वेद की कई शाखायें हो गईं। शाखाओं का उद्भव जाति के विस्तार का निश्चित प्रमाण है। सभी शाखाओ को अपने अपने क्षत्र मे प्रामाणिक मान लिया गया इससे यह भी प्रमाणित होता है कि उस समय के ऋषियो और विद्वानो में विचारो की उदारता और सहिष्णुता बडी मात्रा म विद्यमान थी। जिन शाखाओ के नाम उपलब्ध होते हैं उनमे स मुख्य निम्नलिखित है—

१ ऋग्वेद—शाखाएँ—शाकल बाष्कल आश्वलायन शाखायन और माण्डूकेय।

२ यजुर्वेद—शाखाएँ—तत्तिरीय मत्रायणी काठक कठ तथा कापिष्ठल सहिता।

३ सामवेद—शाखाएँ—कौथुम और राणायनीय

४ अथर्ववेद—शाखाएँ—पप्पलाद और शौनक।

इनमें कुछ इस समय उपलब्ध नहीं हैं।

ब्राह्मणों की रचना—जाति में उस प्राचीनकाल में वेद ही पथ-दर्शक थे। समझा जाता है कि उस काल में देश सिन्धु नदी से लेकर गंगा तक परिमित था। धीरे धीरे देश की सीमा का फैलाव होता गया। दूसरी विशेष बात यह हुई कि विरोधियों से संघर्ष लगभग शान्त हो गया। विरोधी शक्तियाँ या तो पराजित हो गई अथवा आर्य जाति में विलीन हो गई। संघर्ष के न रहने से स्वभावतः प्रगति शान्त हो गई और स्थिति में दृढ़ता आ गई फलतः जिन गुणों की संघर्ष में विजय होने के लिये आवश्यकता होती है वे या तो लुप्त हो गये अथवा बहुत शिथिल हो गये और उनके स्थान पर रीति रिवाज और रूढ़ियों की प्रधानता होने लगी। एक राजा के अभिषेक का दृष्टान्त लीजिए। युद्ध के मध्य में या आरम्भ में किसी का राजा या अग्रणी चुनने की प्रणाली बहुत संक्षिप्त होगी। उसमें महीनों का समय नहीं लग सकता। परन्तु शान्ति के समय, जब खुला समय हो तब वही काम समारोहपूर्वक किया जायगा। दूर-दूर निमन्त्रण भेजे जायेंगे तरह-तरह की सामग्री एकत्र होगी और लम्बे चौड़े विधि-विधान बरते जायेंगे। उसका नाम "अभिषेक महोत्सव" होगा। संघर्ष और शान्ति के समय के कार्यों के रूप में भेद होना अवश्यम्भावी है। वैदिक काल प्रगति का आगे बढ़ने का और संघर्ष का काल था उसमें सब विधि-विधान सरल और संक्षिप्त थे। जब संघर्ष समाप्त हो गया या बहुत हल्का रह गया और आर्य जाति सप्तसिन्धु से आगे बढ़कर विन्ध्याचल तक फैल गई तब प्रत्येक कार्य विधि के अनुसार होने लगा। वेदों के जो मन्त्र यज्ञों में प्रयुक्त होते थे उनकी व्याख्या आवश्यक प्रतीत होने लगी और यह भी आवश्यक हो गया कि जो विधियाँ प्रचलित हुई उनके सम्बन्ध में होने वाले 'क्यों' और 'क्या' प्रश्नों के सहेतुक उत्तर दिये जाएँ। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई। सब ब्राह्मण एक ही समय में नहीं बने इस कारण उनके काल की कोई विशेष

नाम नही लिया जा सकता। इतना कहा जा सकता है कि वैदिक काल के पीछे भारतीय साहित्य और संस्कृति के विस्तार का जो काल आया ब्राह्मण ग्रन्थो का मुख्य भाग उसी की रचना है।

ब्राह्मण ग्रन्थो के अध्ययन से देश की परिवर्तित दशायें स्पष्ट दिखाई देती हैं। पहला मोटा भेद तो यह आ गया है कि पद्य का स्थान गद्य ने, और कविता का स्थान व्याख्या ने ले लिया है। ब्राह्मणो मे भी कहीं-कहीं छन्दोबद्ध वाक्य हैं परन्तु वे अपवाद हैं नियम नहीं। दूसरी विशेष बात यह है कि देवासुर युद्ध अत्यन्त भूतकाल म चला गया है। देवासुरा वा सयत्ता आसन्' देवता और असुर लड़ाई के लिये तैयार थे इस प्रकार के वाक्य सिद्ध करते हैं कि सघर्ष का समय बहुत पीछे रह गया था। देश अनेक राज्यों में विभक्त हो गया था। आचार्य लोगो में अनेक विषयों पर मतभेद हो गये थे जिन पर वाद विवाद होते रहते थे। वह समय भारतीय संस्कृति के क्रमबद्ध होने का था। प्रत्येक कार्य को क्रम और विधि से करना आवश्यक हो गया था। विधि का मुख्य अंग यज्ञ था वर्ष के पूर्व अध्ययन अध्यापन विजय और राज्याभिषेक धन और सन्तान की प्राप्ति यह सभी कुछ यज्ञापेक्ष हो गया था।

वर्ण-व्यवस्था का विकास धीरे धीरे हो रहा था यद्यपि उसमें कठोरता का प्रवेश नहीं हुआ था। स्त्रियो का स्थान वैदिक काल के समान ही ऊँचा था। यज्ञो म यजमान पत्नी का सहयोग आवश्यक था।

एसा तो नहीं प्रतीत होता कि होम रूप म यज्ञ ही केवल धर्म का चिह्न रह गया हो परन्तु उसकी प्रधानता अवश्य हो गयी। चारों वेदों के पृथक्-पृथक् व्याख्या रूप ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई। उनकी व्याख्या शैली म भी थोड़ा-बहुत भेद है।

वेदों के साथ सम्बद्ध ब्राह्मण निम्नलिखित हैं—

ऋग्वेद के ब्राह्मण—ऐतरेय कौषीतकी।

यजुर्वेद के ब्राह्मण—शतपथ।

सामवेद के ब्राह्मण—पर्चविंश ताण्ड्य।

अथर्ववेद का ब्राह्मण—गोपथ।

इनम से एतरेय ब्राह्मण म अनक यज्ञों का विधियों का सागोपांग उल्लेख है। उसमें स्थान-स्थान पर एसी गाथाएँ (श्लोक) आती हैं जिन्हें स्मृति ग्रन्थों का बीज रूप कह सकते हैं। शतपथ ब्राह्मण सब ब्राह्मणों में लम्बा और एतिहासिक दृष्टि स महत्त्वपूर्ण है। इसम बहुत स उपाख्यान और कथानक जिनक आधार पर पुराणकर्ताओं न लम्बी-लम्बी कथाएँ बनाई और कवियों न काव्य लिख सक्षिप्त रूप म शतपथ म विद्यमान हैं। दुष्यन्त और शकुन्तला तथा उर्वशी और विक्रम की कहानी का मूल रूप शतपथ म ही प्राप्त होता है। इस ब्राह्मण में राजर्षि जनक की चर्चा तो कई स्थानों पर आई है। जल प्रलय और पृथ्वी क पुनरुद्धार का उपाख्यान भी कुछ विस्तृत रूप म मिलता है। इस प्रकार धर्मों की यज्ञ परक व्याख्या और यज्ञविधियों व सागोपाग वर्णन क साथ-साथ शतपथ ब्राह्मण म दृष्टान्तों तथा कथाओं द्वारा उस समय का आभास भी दिया गया है।

गोपथ ब्राह्मण में मौलिकता कम है। बहुत से भाग ऐतरेय तथा शतपथ स लिए गए हैं। शेष भागों म कर्मकाण्ड की प्रधानता है।

आरण्यक—ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग आरण्यक कहलाते हैं। आरण्यकों को हम ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों के बीच में पुल की उपमा दे सकते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों म जिन यज्ञों का विधान है गृहस्थ लोग उनके अधिकारी थ। अत्यन्त प्राचीन काल स भारत म यह पद्धति चली आती थी कि प्रौढावस्था के पश्चात उतार (किंचितदृह्निनि) की अवस्था आने पर गृहस्थी लोग घर का भार युवा बच्चों पर डालकर अरण्यों म चले जाते थ और आश्रमों म रहकर आत्मचिन्तन और अभ्यास करते थे। आरण्यक इसी प्रणाली के सूचक हैं। उनकी रचना ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ ही हुई या उन्हें बाद स उनम अन्तिम भाग क तौर पर मिला दिया यह कहना कठिन है परन्तु यदि भाषा-शैली को समय का सूचक मानें तो उन्हें ब्राह्मणों स कुछ बाद के का समय देना पड़ेगा। उनकी भाषा-शैली

ब्राह्मणों की भाषा की अपेक्षा उस भाषा से अधिक मिलती है जो संस्कृत भाषा कहलाई। उनकी शब्द रचना में भी परिष्कार है और छंद भी ब्राह्मणोत्तर कालीन ग्रन्थों से अधिक मिलते हैं। आरण्यक ग्रन्थों में कर्म काण्ड से विरक्ति और अध्यात्म चिंतन का प्रारम्भ पाया जाता है।

छठा अध्याय

उपनिषद् ग्रन्थ

भारतीय संस्कृति के अनेक इतिहास लेखकों ने संस्कृति के प्रारम्भिक युग को पूर्व वदिक काल और उत्तर वदिक काल इन दो भागों में विभक्त करके सन्तोष कर लिया है। प्रतीत होता है कि संक्षिप्त शीर्षक देने की प्रेरणा ही उस सन्तोष का कारण है। वस्तुत वेदों के पश्चात बने भारतीय वाङमय को एक ही श्रेणी या काल के डिब्बे में बन्द करना एतिहासिक दृष्टि से उचित नही है। ब्राह्मणों के पश्चात उपनिषदों की रचना मानों हमें भारतीय संस्कृति के एक नये प्रदेश में ले जाकर खड़ा कर देती है। उपनिषद् वस्तुत ब्राह्मण ग्रन्थों की एकान्त कमकाण्ड की प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिवाद उपस्थित करती है। उपनिषदों की विचार-शली और जीवन के चरम लक्ष्य की भावना ब्राह्मण ग्रन्थों से अलग है और उनमें समाज का जो चित्र झलकता है वह भी बहुत कुछ भिन्न है। उपनिषदों में वेदों की तेजस्विता का तो अभाव ह परन्तु आध्यात्मिकता अधिक विस्तृत रूप म ओत प्रोत है। ब्राह्मण ग्रन्थों मे मुख्य रूप से वेदों के कम परक मन्त्रों की विशद् व्याख्या और विस्तृत विधानों द्वारा पुष्टि की गई थी और उपनिषदों मे आत्मा ब्रह्म तथा मोक्ष का विवेचन है।

इस भेद के होते हुए भी शृखला नही टूटी क्योंकि भाषा की शली और प्रतिपादन की सामग्री मे बहुत सी समानता है। दोनों वेद मन्त्रों पर आधारित हैं। उन्ही ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों के नामों की बारम्बार चर्चा है और भिन्न भिन्न प्रकार के विवेचन उन्ही के मुख से कराये गये हैं। वस्तुत उपनिषदें भारत की विचार शृखला म एक नयी कड़ी उपस्थित करती हैं।

सख्या—उपनिषदों की पूरी सख्या कितनी है इस प्रश्न का निश्चय

तक उत्तर आज तक भी नहीं दिया जा सका। कारण यह है कि सम्प्रदायवादी विद्वानों में पुराणों की भांति उपनिषद् बनाने की प्रवृत्ति भी बहुत बढ़ गई थी। उपनिषद् नाम की जो पुस्तकें अब तक छपी हैं उनकी संख्या सौ से ऊपर है। उनमें से कइयों के विषय और रचना-काल का अनुमान उनके नाम से ही लग सकता है। सूर्योपनिषद्, कृष्णोपनिषद्, नारायणोपनिषद् आदि का उद्देश्य इतना ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन नहीं जितना अपने इष्टदेव के विशेष का गुण कीर्तन है। एक सज्जन ने तो अल्लोपनिषद भी बना डाली है। इन पीछे बनी हुई अनेक उपनिषदों को छोड़ दें तो मुख्य प्रामाणिक और सर्वसम्मानित उपनिषदें ११ हैं जिनमें से प्रथम ईशोपनिषद् यजुर्वेद का अंतिम अध्याय है। उसे वेद में अन्तर्गत मान लें तो मुख्य उपनिषदों की संख्या १० है। ईश को मिलाकर उनके नाम निम्नलिखित हैं—

(१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तरीय (८) ऐतरेय (९) छान्दोग्य (१०) बृहदारण्यक और (११) श्वेताश्वतर।

भाषा तथा भाव—उपनिषदों की भाषा यों तो ब्राह्मणों से मिलती जुलती है परन्तु वह अधिक परिष्कृत होने के कारण रामायणकालीन संस्कृत के अधिक समीप है। उपनिषदों का विषय आध्यात्मिक है। इस दृष्टि से शायद संसार के वाङ्मय में उपनिषदों का अद्भुत स्थान है। सब देशों और सब धर्मों से सम्बन्ध रखने वाले जिन विद्वानों ने पक्षपातहीन दृष्टि से उपनिषदों को पढ़ा है वह उनकी ऊँची आध्यात्मिकता से प्रभावित हुए हैं। यह मानना पड़ेगा कि भारतीय संस्कृति को गहरा आध्यात्मिक रंग देने में उपनिषदों का बहुत बड़ा हाथ है। हमारे दर्शन शास्त्रों का और बौद्ध विचारधारा का बीजारोप भी उपनिषदों की भूमि में ही हुआ दिखाई देता है।

उपनिषदों का मुख्य विषय ब्रह्म का ज्ञान है। 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' उस ब्रह्म को जानकर ही मनुष्य

मृत्यु को तर सकता है उसका अन्य कोई मार्ग नहीं है। जो कर्मकाण्डी अग्निष्टोमादि यज्ञों से मोक्ष की प्राप्ति में विश्वास रखते थे उनके बारे में उपनिषद् में कहा है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः

ये यज्ञ रूपी नौकाएँ बहुत निर्बल हैं उनकी सहायता से मृत्यु के पार नहीं जाया जा सकता।

यहाँ एक बात बतला देना आवश्यक है। उपनिषदों में कर्ममात्र का निषेध नहीं किया। त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनन्दानम् इति' धर्म के तीन मुख्य अंग है, यज्ञ अध्ययन और दान। सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा' यह ब्रह्म सत्य और तप से पाया जा सकता है। उपनिषदों में इस प्रकार के वाक्य भरे पड़े हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उनका विरोध केवल अत्यन्त बढ़े हुए कर्मकाण्ड के प्रति था सदाचार सम्बन्धी कर्मों के प्रति नहीं।

उपनिषदों से उस समय की सामाजिक दशा पर भी प्रकाश पड़ता है। आश्रम व्यवस्था का पालन होता था। ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीन आश्रमों का तो व्यापक चलन था। वर्णव्यवस्था में जड़ता या कठोरता नहीं आई थी। ब्राह्मण लोग क्षत्रियों के पास ब्रह्मविद्या सीखने जाते थे। सम्राट जनक को सर्वसम्मत ब्रह्मज्ञानी माना जाता था। बड़े बड़े विचारक उसके पास ज्ञान प्राप्त करने जाते थे। सत्यकाम जाबाल की प्रसिद्ध गाथा उस समय के सामाजिक संगठन की उदारता को सूचित करती है। जाबाला का पुत्र सत्यकाम जब आचार्य के पास विद्या प्राप्त करने के लिये जाने लगा तो उसने अपनी माता से पूछा कि मेरा गोत्र क्या है? जब आचार्य पूछेंगे कि तुम्हारा गोत्र क्या है तो मैं क्या उत्तर दूंगा? माता ने उत्तर दिया बेटा मुझे पता नहीं तेरा गोत्र क्या है? यौवन में किसी अज्ञात व्यक्ति से तू उत्पन्न हुआ इस कारण मुझे तेरा गोत्र मालूम नहीं। मेरा नाम जाबाला है तेरा नाम सत्यकाम है। तू अपना पूरा नाम सत्यकाम जाबाल बतला देना। सत्यकाम आचार्य

हारिद्रुमज गौतम के पास ज्ञान प्राप्ति करने के लिये पहुँचा तो उन्होंने उसका गोत्र पूछा। सत्यकाम ने जो कुछ माता ने बतलाया था वैसा का वैसा दुहरा दिया। इस पर प्रसन्न होकर आचार्य उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने लगे।

स्त्रियों की दशा का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि याज्ञवल्क्य ऋषि की पत्नी मैत्रयी का विशेषण 'ब्रह्मवादिनी' था और गार्गी ने आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर में अनेक विद्वानों को निरुत्तर कर दिया था। याज्ञवल्क्य से जिन ब्रह्मज्ञानियों ने प्रश्न किये उनमें एक वाचक्नवी नाम की ब्रह्मवादिनी भी थी। स्त्रियों के ऊँची शिक्षा प्राप्त करने या पुरुषों की सभाओं में बराबरी का भाग लेने में कोई रुकावट नहीं। पर्दे की प्रथा का अभाव था।

देश की सुख शान्ति का आदर्श छान्दोग्य उपनिषद् में आये हुए राजा अश्वपति के वाक्य से लग सकता है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्नस्वरीस्वरिणी कुतः।

मेरे देश में न चोर है न कजूस और न शराबी है। ऐसा व्यक्ति भी नहीं है जो होम न करता हो या विद्वान् न हो। दुराचारी भी कोई नहीं जब दुराचारी नहीं तो दुराचारिणी कैसे हो सकती है।

उस समय विद्याओं और कलाओं के विकास का अनुमान छान्दोग्य के इस उद्धरण से लगाया जा सकता है। नारद के पूछने पर सनत्कुमार ने उत्तर दिया—

ऋग्वेद भगवोऽध्येमि यजुर्वेद सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहास-पुराण पचम वेदानांवेदं पिभ्य राशि दैवं निधि वाकोवाक्य मेकायन देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्वदेवजनविद्या मेतेद्भगवो ध्येमि।

सनत्कुमार ने चारों वेदों के अतिरिक्त इतिहास पुराण आदि अनेक विद्याएँ और तथा प्राणिविद्या नक्षत्रविद्या समाजशास्त्र आदि का अध्ययन

किया था। इस प्रकार हम उपनिषदों के अध्ययन से यत्नपूर्वक उस समय के समाज का एक रेखाचित्र खेंच सकते हैं। उपनिषदों की विशेषता यह है कि वह ब्रह्मविद्या को संसार की सब विद्याओं से ऊँचा रखती है। उनके अनुसार अन्य विद्याएँ 'अपरा' हैं और ब्रह्मविद्या "पराविद्या' है। यही मनोवृत्ति है, जिसने युग-युगान्तरों में भारतीय संस्कृति को अपने रंग से रंजित किया है।

वेदांग—वेदांग छः हैं—(१) शिक्षा (२) छन्द (३) व्याकरण (४) निरुक्त, (५) कल्प और (६) ज्योतिष। इनमें शिक्षा व्याकरण और कल्प सूत्रों में हैं।

ये सब वेदांग एक ही समय की कृति नहीं हैं और न इनकी रचना ही एक-सी है। इनके रचयिता भी अनेक हैं। भिन्न-भिन्न समयों पर वेद विषयक ग्रन्थ बनते रहे जिन्हें अन्त में श्रेणियों में बाँट दिया गया।

इन सब ग्रन्थों का उद्देश्य वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुशीलन में सहायता देना उनके भाषा सम्बन्धी नियमों को विशद करना और यज्ञों तथा संस्कारों की विधियों को नियमबद्ध करना था। सूत्र बनाने की प्रथा का जन्म इसलिये हुआ कि उस समय शास्त्रों की रक्षा स्मरण द्वारा की जाती थी। वेद ब्राह्मण तथा उपनिषदों का पठन-पाठन वाचिक था इस कारण सुनकर और याद करके ही उनका अध्ययन किया जाता था। जब तक केवल ऋचाओं को याद करना ही आवश्यक था तब तक कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि ऋचायें छन्दोबद्ध थीं जिन्हें स्मरण करना सुगम था परन्तु जब वाङ्मय का आकार बढ़ गया तब स्मरण शक्ति पर बहुत बोझ पड़ने लगा। ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदों के समूह को याद रखना उस समय का असाधारण स्मरण-शक्ति रखने वालों के लिये भी असम्भव हो गया। तब आचार्यों ने सूत्र प्रणाली का आविष्कार किया। वेदांगों में शिक्षा व्याकरण तथा कल्प ग्रन्थों में प्रायः सूत्रों का प्रयोग हुआ है।

शिक्षा—शिक्षा ग्रन्थों का उद्देश्य वेदों के शुद्ध उच्चारण और स्वरों

का ज्ञान कराता है। यह माना जाता था कि वर्ण के शुद्ध उच्चारण से पुण्य मिलता था और अशुद्ध उच्चारण से पाप लगता था। स्वर शुद्ध उच्चारण के सहायक और अर्थों के भी द्योतक थे। इन दोनों की रक्षा तथा शिक्षा के लिए प्रातिशाख्यों की रचना हुई। शिक्षा के चार ग्रन्थ प्रख्यात हैं—१ याज्ञवल्क्य शिक्षा २ नारदीय शिक्षा ३ माण्डूकी शिक्षा और ४ पाणिनीय शिक्षा।

छन्द—वेदों में अनेक छन्द हैं जिनमें से अनुष्टुप जगती आदि छन्द प्रमुख हैं।

वेदों के इन छन्दों में नाम की समानता होते हुए लौकिक छन्दों से बहुत भेद है। प्राचीन छन्द शास्त्र इस समय उपलब्ध नहीं है। इस समय पिंगल का छन्द-शास्त्र ही वैदिक और लौकिक छन्दों का प्रारम्भिक ग्रन्थ मिलता है।

व्याकरण—अत्यन्त प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों में से कोई पूरा उपलब्ध नहीं होता। पाणिनि मुनि के अमरग्रन्थ अष्टाध्यायी में जो निर्देश मिलते हैं उनसे प्रतीत होता है कि उससे पूर्व भी व्याकरण होंगे। शाकटायन गार्ग्य भारद्वाज तथा स्फोटायन आदि पुराने व्याकरणाचार्यों के नाम स्थान-स्थान पर प्राप्त होते हैं। प्रतीत यह होता है कि जब पाणिनि मुनि ने अपने अद्भुत अष्टाध्यायी नामक ग्रन्थ का निर्माण कर दिया तब अन्य सब ग्रन्थ अन्यथा सिद्ध होकर धीरे धीरे लुप्त हो गये। अष्टाध्यायी में वैदिक और लौकिक दोनों भाषाओं का पूर्णरूप से विवेचन है। यह सर्वसम्मत बात है कि संसार की किसी अन्य भाषा का इतना क्रमबद्ध और पूर्ण व्याकरण विद्यमान नहीं है जितना संस्कृत का और इस पूर्णता का सबसे अधिक श्रेय पाणिनि मुनि को है। समझा जाता है कि पाणिनि मुनि 'नालन्दा विश्वविद्यालय' में आचार्य थे। वहाँ रहते हुए उन्होंने अष्टाध्यायी की रचना की।

पाणिनि के ग्रन्थ ने प्राचीन देवभाषा को छन्द और भाषा दो भागों में बाँट दिया है। छन्द शब्द से वैदिक भाषा का और भाषा शब्द से

लौकिक भाषा का बोध होता है। इसी का नाम संस्कृत पड़ा। पाणिनि मुनि ने भाषा को नियमों में बाँधकर माना मांज दिया इस कारण उसका संस्कृत नाम पड़ा।

निरुक्त—निरुक्त में वेदों के कठिन मन्त्रों की व्याख्या की गई है और व्याकरण की सहायता से उनके मनाय समसामयिक हैं। निरुक्त का आधार निघण्टु नाम का वैदिक शब्दों का संग्रह है। निरुक्त में निघण्टु के इन्द्र क्रम में वर्णित शब्दों के यौगिक यागरूढि और रूढि शब्दों के अर्थ समझाने के नाय-साथ वेदों के अर्थ करने की प्रणाली भी बतलाई गई है। निरुक्त के देखने से प्रतीत होता है कि उस समय भी वेदों के अर्थ करने की एक से अधिक प्रणालियाँ थीं। कुछ व्याख्याकार वेदों की ऐतिहासिक व्याख्या करते थे तो कुछ आध्यात्मिक। निरुक्त सूत्रग्रन्थ नहीं है। वह परिष्कृत गद्य में लिखा गया है।

कल्प—कल्प सूत्र चार प्रकार के हैं—

१ श्रौत २ गृह्य ३ धर्म ४ शुल्व।

१ श्रौत सूत्र—यह कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखते हैं। ये वेदों में इस प्रकार बँटे हुए हैं

ऋग्वेद—आश्वलायन शांखायन।

शुक्ल यजुर्वेद—कात्यायन।

कृष्ण यजुर्वेद—आपस्तम्ब हिरण्यकेशी बौधायन भारद्वाज मानव वैखानस।

सामवेद—लाट्यायन द्राह्यायण आर्षेय।

अथर्ववेद—वैतान।

२ गृह्य सूत्र—इन सूत्रों के विषय गृहस्थ सम्बन्धी संस्कार हैं। निम्नलिखित गृह्य सूत्र मिलते हैं—

ऋग्वेद—शांखायन शौनक्य आश्वलायन।

शुक्ल यजुर्वेद—पारस्कर।

कृष्ण यजुर्वेद—आपस्तम्ब हिरण्यकेशी बौधायन [illegible]

वैखानस ।

सामवेद—गोभिल खादिर ।

अथर्व—कौशिक ।

३ धर्मसूत्र—इनमें व्यक्तिगत तथा सामाजिक कर्त्तव्यों का वर्णन है। इस समय तीन प्राप्त हैं—आपस्तम्ब हिरण्यकशी और बौधायन—तीनों कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध रखते हैं।

४ शुल्ब सूत्र—शुल्व नापने की प्रामाणिक डोरी को कहते हैं। इस सूत्र में यज्ञवेदी आदि की लम्बाई तथा आकार प्रकार का वर्णन है। इसका उद्देश्य अव्यवस्था से बचाना था।

सूत्रग्रन्थ किसी एक विशेष समय की संस्कृति के द्योतक न होकर अनेक सदियों में विस्तृत संस्कृति के सूचक हैं क्योंकि इनमें वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित विषयों का संक्षेप किया है और उन्हें क्रम बद्ध किया गया है। एक प्रकार से उन्हें बाँधकर स्थिर कर दिया गया है।

ज्योतिष छठा वेदांग है। इसका कोई अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।

सातवाँ अध्याय

वाल्मीकि रामायण

अब हम अपने इतिहास के उस पड़ाव पर पहुँच गये हैं जहाँ सस्कृति अपने मूर्त रूप म दिखाई देती है। इससे पूर्व के समय मे हमारा मार्गदर्शक अनुमान था। वेद ब्राह्मण तथा उपनिषद् समाज के सब अंगो का स्थूल रूप म वर्णन करते हैं। हम वास्तविक दशा का जहाँ-तहाँ आये हुए वाक्यो से अनुमान लगाना पड़ता है। रामायण काल म आकर हमारी दृष्टि सम्पूर्ण समाज पर पड़ने लगती है। हम वहाँ उस समय की सास्कृतिक दशा का सागोपांग दर्शन कर लेते हैं। वस्तुत रामायण जहाँ भारतीय सस्कृति के उस समय तक क विकास का मूर्त्त रूप थी वहाँ वह भविष्य मे विकास पाने वाली भारतीय सस्कृति की पथदर्शक बनी। वाल्मीकि रामायण का यह पद्य वस्तुस्थिति का ही वर्णन करता है

'यावत्स्थास्यन्ति गिरय' सरित इव महीतले।
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

रामायण की रचना कब हुई और उसका कौनसा भाग पहले और कौनसा पीछे बना इस प्रश्न का निश्चित समाधान अब तक नही हुआ हम उसम जाने की आवश्यकता भी नही। यह प्रश्न भी सस्कृति क इतिहास म अधिक महत्त्व नही रखता कि रामायण की सारी कथा सत्य पर आश्रित है या उसक कुछ भाग कल्पना पर आश्रित भी हैं। समय के सम्बन्ध म इतना जान लेना आवश्यक है कि सास्कृतिक दृष्टि से वाल्मीकि रामायण उपनिषदों क अत्यन्त निकट है। दोनो म भाषा भाव और ऐतिहासिक व्यक्तियो के नाम निर्देशों की समानता इतनी अधिक है कि हम यह मानने म कोई बाधा प्रतीत नही होती कि उपनिषदो की रचना और रामायण की मूलकथा म समय का अधिक अन्तर नही है।

रामायण की सारी कथा सत्य है या उसका कुछ भाग काल्पनिक है यह प्रश्न भी संस्कृति के विकास की दृष्टि में गौण है। क्योंकि सत्र प्रक्षेपों के होते हुए भी रामायण उस समय की भारतीय संस्कृति का एक ऐसा स्पष्ट और पूरा रूप चित्रित कर देती है जैसा उससे पूर्ववर्ती वाङ्मय में प्राप्त नहीं होता।

रामायण के समय का समाज—उस समय देश की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थिति का चित्र हम रामायण की सहायता से खींच सकते हैं। देश यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से कई छोटे छोटे राज्यों में बटा हुआ था तो भी हर समय उसमें एक सम्राट या चक्रवर्ती राजा रहता था। चक्रवर्ती पद पाने की विधि यह थी कि जो राजा उस पद का उम्मेदवार होता था वह राजसूय यज्ञ करता था। उस राजा का सेनाओं द्वारा रक्षित अश्व देश-देशान्तर में घूम जाता था। वह जिस राजा के राज्य में से गुजरे यदि उसने घोड़े को रोका तो युद्ध होता था। यदि नहीं रोका तो मान लिया जाता था कि उसने विजेता के चक्रवर्ती पद को स्वीकार कर लिया। युद्ध में यदि अश्व के स्वामी की जीत हुई तो उसकी प्रभुता व्यवस्थित हो जाती थी। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक समय में कोई-न-कोई राजा चक्रवर्ती पद की योग्यता प्राप्त करता रहता था और वही अपने समय में देश की एकता का द्योतक केन्द्र होता था। राघव वंश के संस्थापक सम्राट रघु ने इसी विधि से चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था। रघु के पिता दिलीप ने सौ यज्ञ करके स्वराज्य और स्वाराज्य दोनों को प्राप्त कर लिया था। देश की सामान्य व्यवस्था यह थी कि अपनी अपनी सीमाओं में आन्तरिक शासन करने के लिये सब शासक स्वतन्त्र थे परन्तु सार्वदेशिक दृष्टि से उन्हें चक्रवर्ती के नेतृत्व को स्वीकार करना पड़ता था। देश की एकता चक्रवर्ती की सत्ता के कारण व्यवस्थित रहती थी।

उस समय के आर्यावर्त की सामान्य दशा का चित्र रामायण के अयोध्या वर्णन की सहायता से खींचा जा सकता है। राम राज्य के

सम्बन्ध म रामायण म जो सन्दर्भ है उसम उस समय की सामान्य धार्मिक सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का अनुमान लगाना कठिन नहीं है। राजा और प्रजा का धार्मिक और सामाजिक स्तर बहुत ऊंचा था। सत्य वत्सलपरायणता और न्याय राजा के और सदाचार वर्ण धर्म का पालन तथा राजभक्ति प्रजा के गुण विशेष बताये जाते थे जो सामान्य रूप से राजाओं और प्रजाजनों म पाये जाते थे। रामायण म जहाँ भी किसी प्रसिद्ध राजा का वर्णन आता है वहाँ उस धार्मिक तपस्वी शान्ति विनयता म विभूषित किया गया है। वृद्धावस्था म प्राय वे लोग राज्य का बोझ लड़कों पर डालकर वानप्रस्थी बन जाया करते थे। जब तक राज्य करते थे प्रजा-पालन को अपना पहला कर्त्तव्य मानते थे। यह एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि देश में अनेक छोटे-छोटे राजा के होते हुए भी उनके परस्पर संघर्ष अथवा प्रतिस्पर्धा का कहीं पता नहीं है। सब शान्तिपूर्वक अपनी अपनी सीमाओं म निवास करते थे। केवल एक राजा को जो राजसूय यज्ञ द्वारा चक्रवर्ती पद को प्राप्त कर लेता था सब उसकी अधीनता स्वीकार करते थे। इस प्रकार अनेक खण्डों म बँटे रहकर भी वे राजा अखण्ड आर्यावर्त के अन्तरंग भाग बने हुए थे।

प्रजाजन वर्णाश्रम धर्म के अनुसार अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में लगे रहते थे। रामायण के पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय के वर्ण आजकल के जाति-पाँति की तरह कठोर दायरे में बन्द नहीं थे। कर्मानुसार वर्ण प्राप्त किये जा सकते थे। विश्वामित्र जैसे क्षत्रिय ब्रह्म वर्ण को प्राप्त कर सकते थे और अहिल्या जैसी ऋषि पत्नियाँ अपने ऊँचे पद से गिराई जा सकती थीं। कर्मानुसार वर्ण मिलता था और वर्ण के अनुसार कर्त्तव्यों का बोझ डाला जाता था। इस तरह मनुष्य समाज नदी के बहते हुए पानी की तरह शुद्ध रहता था आजकल के जोहड़ के समान बन्द समाज की भाँति गन्दा नहीं होता था।

लोगों की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी। अयोध्या निवासियों की

समृद्धि का जो वर्णन रामायण में किया है उसमें थोड़ी-सी काव्योचित अत्युक्ति हो सकती है परन्तु सम्पूर्ण रामायण के पढ़ने से जो परिणाम निकलता है वह यह है कि सामान्यतः प्रजाजन सुखी समृद्ध और हर तरह सन्तुष्ट थे।

साहित्य—भारतीय लौकिक साहित्य का प्रारम्भ वाल्मीकि रामायण से होता है। उससे पूर्व वैदिक और आर्ष साहित्य था। वाल्मीकि मुनि के हृदय में कविता की स्फूर्ति किस प्रकार हुई यह सब जानते हैं। मुनि स्नान के लिये नदी की ओर जा रहे थे मार्ग में एक व्याध ने क्रौंचों के प्रेममग्न जोड़े में से एक को तीर से मार दिया। घायल क्रौंच के छटपटाने और बचे हुए क्रौंच के करुण क्रन्दन से मुनि के हृदय पर जो आघात पहुँचा वह अकस्मात् छन्दोबद्ध श्लोक के रूप में जिह्वा से प्रस्फुटित हो गया। वह बोल उठे 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्'। यह संस्कृत की कविता का आदि श्लोक था। वाल्मीकि मुनि उससे पूर्व नारद मुनि से पुरुषोत्तम राम का वृत्तान्त सुन चुके थे। अपने मुँह से श्लोक के रूप में सरस्वती को प्रवाहित होते देखकर मुनि स्वयं आश्चर्यित और हर्षित हुए और उसी प्रकार के श्लोकों में राम के पावन चरित्र के गायन का निश्चय किया। उस निश्चय का परिणाम वाल्मीकि रामायण है। रामायण से प्रतीत होता है कि वाल्मीकि अपने महाकाव्य को कई नामों से निर्दिष्ट करना चाहते थे। रामायण सीता चरित्र पुलस्त्य-वध रघुवर चरित्र और रघुवंश चरित्र इन नामों के चिह्न रामायण में मिलते हैं। वस्तुतः ये सभी नाम उचित होते क्योंकि यह रामायण के कथानक के विविध अंगों को सूचित करने वाले हैं।

रामायण के पश्चात् संस्कृत और उसके पश्चात् प्राकृत साहित्य का जो प्रवाह चला उसका आदि स्रोत रामायण ही है। इसी कारण रामायण को उपजीव्य काव्य और आकर ग्रन्थ कहा है। सदियों तक हमारे देश के कवि रामायण के अन्दर ही घूमते रहे। व्यास मुनि ने

महाभारत की जो रचना की वह भी बाल्मीकि की बनाई हुई पद्धति से बाहर नहीं जा सकी। महाभारत का विषय अलग है परन्तु उसकी साहित्यिक रूपरेखा वही है जो वाल्मीकि की रामायण की थी। हमारा शताब्दियों में फला हुआ शेष साहित्य बहुत अंश में रामायण और कुछ अंश में महाभारत के आस-पास ही चक्कर काटता रहा।

जैसे हमारे देश के भूगोल पर रामकथा छाई हुई है वैसे ही साहित्य पर भी उसका व्यापी प्रभाव है। उपमा उत्प्रेक्षा आदि में राम सीता और लक्ष्मण आदि पात्रों का निर्देश इतना व्यापक है कि हमने उसे अनुभव करना ही छोड़ दिया है। भारतीय कवियों के लिये यह बिलकुल स्वाभाविक हो गया है कि वह भले व्यक्ति की राम से सती नारी की सीता से और दुष्ट पुरुष की रावण से उपमा देते हैं। ये उपमाएं हमारे साहित्य का ही नहीं प्रतिदिन की बोलचाल का भी अंग बन गई हैं। साहित्य का विद्यार्थी अब भारतीय लौकिक साहित्य के वर्तमान से प्रारम्भ करके पीछे की ओर जाता है तब वह जिस मूल स्रोत पर पहुँचता है वह वाल्मीकि रामायण है।

सामाजिक दशा (अयोध्या)—वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड के पाँचवें सर्ग में अयोध्या का निम्नलिखित वर्णन है—

सरयू नदी के तट पर धन धान्य से भरा हुआ कोशल नाम का समृद्ध और प्रसन्न जनपद था। सम्राट मनु की स्थापित की हुई अयोध्या नाम की नगरी उसकी राजधानी थी। उस नगरी का विस्तार बारह योजना में था। नगरी के मध्य में जो सुन्दर और विशाल राजमार्ग था उसके दोनों ओर फुलवाड़ी लगी हुई थी और प्रतिदिन उस पर जल का छिड़काव होता था। कारीगरों ने उसे कुशलता से बनाया था उसके किवाड़ और तोरण बहुत सुन्दर थे दुकानें पंक्ति में योजना के अनुसार थी और उसकी रक्षा का पुख्ता प्रबन्ध था। शत्रुओं से उसे बचाने के लिये सैकड़ों तोपें (शतघ्नी) उसकी चारदीवारी पर लगी हुई थी। अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करनेवाले तलवार से जंगली शेरों का शिकार करनेवाले

शस्त्रास्त्र के चलाने म निपुण योद्धा उसकी रक्षा करते थे। नगरी में धारा और उद्यान आम्रवन और शालवन थे। अनेक प्रकार के रत्नों भिन्न भिन्न प्रकार के अन्ना और इक्षुरस आदि मधुर रसा स उसके भण्डार परिपूर्ण थ। नगरवासियो क मनोरजन के लिये सगीत और नाटक विद्यमान थे और सुन्दर वस्त्र आभूषणा से युक्त स्त्रियाँ उसकी शोभा बढ़ाती थी।

अयोध्या के निवासी—ऐसी सुन्दर नगरी अयोध्या म जो नागरिक निवास करते थे उनका निम्नलिखित वर्णन वाल्मीकि रामायण में किया है—

उस नगरी के निवासी अत्यन्त प्रसन्न और सन्तुष्ट थे। वे धर्मात्मा बहुश्रुत लोभरहित और सत्यवादी थे। अयोध्या म कोई कगाल नही था और न कोई ऐसा गृहस्थी था जिसके पास धन धान्य गौ और घोड़ा न हो। उस नगरी म कामी कजूस अथवा क्रूर पुरुष नही थे और न वहाँ कोई पिशुन अथवा नास्तिक दिखाई देता था। सब पुरुष और स्त्री सदाचारी थ। अयोध्या म ऐसे व्यक्ति का मिलना कठिन था जिसके कानो मे कुण्डल न हो सिर पर मुकुट न हो गले म माला न हो और शरीर को तैल चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों से सुगधित न किया गया हो। सब लोग पुष्टिदायक भोजन करते थे और दान करके खाते थ। उनम कोई तुच्छ वृत्ति का या चोर नही था और न कोई सत्यहीन या वर्णसंकर था। सब लोग पढ़े-लिखे थ आस्तिक थे और स्पवान् थे। यह सब प्रकार स प्रसन्न थ जिसका परिणाम यह था कि सारी अयोध्या म एक भी व्यक्ति ऐसा नहा था जो राजभक्त न हो।

शासक तथा शासन—वाल्मीकि रामायण म अयोध्या के दो शासकों का वर्णन आता है—एक राजा दशरथ का दूसरा राम का। राजा दशरथ के बारे म वाल्मीकि मुनि ने लिखा है—

वह राजा महाराष्ट्रविवर्धन अर्थात महान् राष्ट्र की वृद्धि के लिये यत्नशील था। वह वेदवेत्ता था दूरदर्शी (दूर तक देखने वाला)

तेजस्वी और पौर (अयोध्यापुर के निवासी) तथा जनपद देश के अन्य निवासियों का प्रिय था। वह सत्य के सहारे से धर्म अर्थ काम का विधिपूर्वक पालन करता हुआ अयोध्या की इस प्रकार रक्षा करता था जैसे इन्द्र अमरावती की।

महाराजा राम का वर्णन नारद मुनि के मुँह से वाल्मीकि मुनि ने निम्न प्रकार से किया है। वाल्मीकि मुनि ने नारद मुनि से पूछा कि मुझे उस व्यक्ति का नाम बताओ जो सब गुणों से युक्त हो विद्वान भी हो और वीर भी हो जिसकी दया से मनुष्य मात्र सन्तुष्ट हो और जिस के क्रोध से देव और दानव सब डरते हों। इस प्रश्न के उत्तर में नारद मुनि ने राम का निम्नलिखित वर्णन किया है—

जिन गुणों से युक्त व्यक्ति के सम्बन्ध में तुमने प्रश्न किया है वे गुण राजा राम में हैं। इक्ष्वाकु-वंश में उत्पन्न हुआ राम विद्वान् है संयमी है बुद्धिमान है और वाग्मी है। वह विपुल कन्धों वाला है महाबाहु है। स्निग्ध शरीर के सब दृढ और सुन्दर अंगों से युक्त है। वह धर्म को जानता है अपने वचन को पूरा करता है और रात दिन प्रजा के हित में लगा रहता है। वह साधु प्रकृति का मधुर भाषी और प्रियदर्शन है। वह न्याय है अपने और अपनी प्रजा के धर्म की रक्षा करना अपना प्रथम कर्तव्य समझता है। वह समुद्र के समान गम्भीर और हिमालय के समान धैर्य वाला है। वह क्रोध में कालाग्नि के सदृश और क्षमा में पृथ्वी के सदृश है।

लंका-विजय के पश्चात जब महाराज रामचन्द्र अयोध्या का राज्य करने गये तब उनका मुख्य कार्य प्रजा के कष्टों को दूर करना और प्रजा को प्रसन्न करना ही था। वह स्वयं भी तपस्वी की भाँति रहते थे। उनका द्वार प्रजाजनों के लिए सदा खुला रहता था। राम के राज्यारूढ होने पर अन्य देश के राजाओं ने जो मणि मुक्ता आदि ऐश्वर्य भेंट में भेजा उसे राम ने प्रसन्न होकर कुछ सुग्रीव को दे दिया और कुछ विभीषण को बाँट दिया। वाप आ कपि और राक्षस राम के साथ आये थे

उन्हें मुँहमाँगी भेंट देकर प्रसन्न कर दिया। किसी पिता का पुत्र छोटी उम्र में मर गया तो वह राम के द्वार पर आकर रोता था और कहता था—हे राजन्! यह बड़ा अनर्थ है कि पिता के सामने पुत्र मर जाय। तुम्हारे राज्य में पाप होता है तभी तो ऐसा हुआ। रामचन्द्र धनुष-बाण हाथ में लेकर पुष्पक-विमान पर बैठ जाते थे और देश भर में घूमकर देखते थे कि ऐसा पाप कहाँ हो रहा है जिसके कारण पिता के सामने पुत्र मरा।

लवण राक्षस ने ऋषियों को कष्ट दिया। ऋषि लोग राम के पास अपनी फरियाद लेकर पहुँचे। राम ने उनकी दुःखभरी फरियाद सुनी और अपने छोटे भाई शत्रुघ्न को लवण के वध के लिये भेज दिया। यह थी राम की दिनचर्या। वह स्वयं तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करता था परन्तु प्रजाजनों को थोड़ा-सा भी कष्ट नहीं होने देता था। तभी तो अयोध्या की सारी प्रजा राजभक्त थी।

कौशल देश पर अकेला राजा ही राज्य नहीं करता था उसका मन्त्रिमण्डल भी था। मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है—

राजा के आठ अमात्य थे। वे सब विद्वान और चतुर थे। वे और यशस्वी और राज-कार्यों में अनुरक्त थे। उनके नाम थे—धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल और सुमन्त। राजा के दो मुख्य ऋत्विक (पुरोहित) थे महर्षि वशिष्ठ और वामदेव। राजा के यह सलाहकार कैसे थे इसके लिये मैं उन विशेषणों को ही उद्धृत कर देता हूँ जिनका कवि ने प्रयोग किया है। वे श्रीमान् महात्मा शास्त्रज्ञ और दृढ़ विक्रम थे। वे स्मित भाषी (मुस्कराकर बात करने वाले) थे और क्रोध या लोभ से झूठ नहीं बोलते थे। देश और प्रदेश में उनका मान था। प्रजा की रक्षा करना ही उनका धर्म था। इस प्रकार के मन्त्रियों की सहायता से राजा देश में राज्य करता था।

जीवन के आदर्श—रामायण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें जीवन के उन सब आदर्शों को चित्रित किया गया है, जिन्हें उस

समय आचरणीय माना जाता था। राजा मन्त्री, पुत्र भाई माता पत्नी स्वामी सेवक मित्र आदि के सजीव नमूने बनाकर उपस्थित कर दिये गये हैं। साथ ही उस शुक्ल चित्र को स्पष्ट करने के लिए अत्याचारी राजा द्रोही भाई और दस्युओं के जीवन भी चित्रित किये गये हैं। रामायण की न केवल भारत को अपितु सारे संसार को सबसे बड़ी देन यह है कि राम और रावण के रूप में अच्छाई और बुराई के दो ऐसे दृष्टान्त उपस्थित कर दिये हैं जिनके पहिचानने में भूल नहीं हो सकती। राम की सत्यपरायणता और विजय भरत और लक्ष्मण की भ्रातृ भक्ति सीता की अनुपम पति भक्ति हनुमान की शक्ति और उपकारी सुग्रीव की मित्रता ये सब सब से आज तक भारतवासियों के लिये मार्गदर्शक का काम करते रहे हैं। इस दृष्टि से रामायण भारत के उस आदि काल की संस्कृति का बहुत ही स्पष्ट और उज्ज्वल चित्र है। यह न समझना चाहिये कि उस समय सब पुरुष राम और सब स्त्रियाँ सीता थी परन्तु रामायण को पढ़ने से इसमें सन्देह नहीं रहता कि जिस समय उनकी मूल गाथा की रचना हुई उस समय के समाज के आदर्श क्या थे और उसकी सामान्य दशा क्या थी—आदर्श सात्विक थे और दशा समृद्ध और सुख पूर्ण थी।

आठवाँ अध्याय

महाभारत

काल निर्णय—रामायण और महाभारत के काल के सम्बन्ध में अब तक भी अर्वाचीन विद्वानों में बहुत मतभेद है। संस्कृति की परम्परा को समझने के लिए यह प्रश्न बड़े महत्व का है कि रामायण की रचना पहले हुई या महाभारत की। हमारी प्राचीन निश्चित परम्परा यह है कि वाल्मीकि मुनि ने रामायण की रचना राम के राज्य-काल में की और राम ने त्रेता युग में राज्य किया। यह भी परम्परा है कि महाभारत का संग्राम द्वापर युग के अन्त में हुआ और उसके पश्चात् तत्काल ही व्यास मुनि ने महाभारत की रचना की। इस परम्परागत मत के अनुसार रामायण और महाभारत में एक पूरे युग का अन्तर पड़ जाता है।

१६वीं शताब्दी के अन्त में कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह मत प्रकट किया था कि यदि विकासवाद की कसौटी पर कसा जाय तो महाभारत की रचना पूर्वकालीन और रामायण की पश्चात्कालीन सिद्ध होती है। अब अधिक अन्वेषण और विचार के अनन्तर इतिहासज्ञों ने उस कल्पना को रद्द कर दिया है। अब यह बात लगभग सर्वसम्मत हो गई है कि यह सभी क्या होते हुए भी रामायण में और महाभारत में भी गुप्त काल तक प्रक्षेप और उपाख्यान मिलाये जाते रहे हों उनकी मूल रचना का और उनमें वर्णित ऐतिहासिक भाग का परम्परा से माना गया समय ही ठीक है। रामायण की मूल रचना महाभारत से बहुत पहले हुई इस कारण यह भी असन्दिग्ध है कि रामायण में जिस संस्कृति का चित्रण किया गया है वह महाभारत में चित्रित संस्कृति से पूर्व की है।

भारतीय संस्कृति के कुछ नये इतिहास लेखक सक्षेप करने के लिए अथवा भ्रम में पड़कर रामायण और महाभारत को एक ही शीर्षक के नीचे

रखकर तत्कालीन संस्कृति का सामान्य वर्णन कर देते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बहुत भारी भूल है। दोनों समयों की आर्थिक सामाजिक नैतिक तथा धार्मिक दशाओं में बहुत भेद है जिन्हें स्पष्ट रूप से समझे बिना हम भारतीय संस्कृति के आगामी क्रम को नहीं समझ सकते।

भौगोलिक विस्तार—महाभारत के अध्ययन से सबसे पहले जो विशेषता अनुभव होती है उसका निर्देशक उसका नाम है। रामायण में इस देश का विशिष्ट नाम कोई भी नहीं है। या तो 'लोक' शब्द का प्रयोग है या 'भूमि' वाची किसी शब्द का। ये दोनों शब्द सामान्य अर्थ के बोधक हैं किसी सीमित देश को सूचित नहीं करते। भारत शब्द रामायण में नहीं आता। उसमें अयोध्या के वर्णन का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है

सर्वपूर्वमियं येषामासीत्कृत्स्ना वसुन्धरा।
इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञां वंशे महात्मनाम्॥

जो इक्ष्वाकु के वंशज सारी पृथ्वी के स्वामी थे उनकी राजधानी अयोध्या थी। इससे प्रतीत होता है कि उस समय यह माना जाता था कि इक्ष्वाकु वंशज राजा सारी पृथ्वी के शासक थे। उस समय इक्ष्वाकुओं का पृथ्वी पर एकछत्र राज्य था या उस समय के लोग पृथ्वी के उतने भाग को ही पृथ्वी मानते थे जितनी इक्ष्वाकुओं के अधीन थी यह कहना कठिन है, परन्तु यह बात निश्चित है कि एक पृथक 'देश' की भौगोलिक भावना उत्पन्न नहीं हुई थी।

महाभारत के समय दशा सर्वथा बिलकुल बदल चुकी थी। इस देश का 'भारत' यह नाम सर्वसम्मत हो चुका था। जब दिग्विजय और राजसूय यज्ञ के पश्चात् यज्ञ के समय युधिष्ठिर के ऐश्वर्य का वर्णन किया गया था तो उसके समस्त भारतवर्ष के चक्रवर्ती राजा होने की विशेष चर्चा की गई। महाभारत से यह भी विदित होता है कि युधिष्ठिर से पूर्व भारत का चक्रवर्ती राजा जरासन्ध माना जाता था। उस पर विजय पाकर ही युधिष्ठिर ने चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। महाभारत में क्षत्रिय लोग एक दूसरे

को प्राय भारत नाम से सम्बोधित करते हैं जिससे प्रतीत होता है कि भारतवर्ष के सब विशिष्ट वीर भारत कहलाते थ ।

इस प्रकार हम महाभारत के समय भारत देश' के भौगोलिक रूप को स्थूल और स्थिर रूप म आया हुआ पाते हैं ।

रामायण और महाभारत के समयो म हम निम्नलिखित अन्य भेद पाते हैं—

(१) धार्मिक दृष्टि से रामायण काल को हम आर्ष काल का नाम दे चुके हैं। उस समय ऋषियो की प्रधानता थी। वेद वक्ताओ को ऋषि कहते हैं। धर्मों के व्याख्याकार महान् ऋषिया के आश्रम देश म स्थान स्थान पर फैले हुए थे। राजा लोग और प्रजागण भी प्रत्येक सन्देह को दूर करने के लिए थोड़े ही प्रयत्न से ऋषिया के आश्रमों म पहुच जाते थे और कत्तव्य की व्यवस्था ल लेते थे। वदिक देवताओ की वदिक नामा से अचना होती थी ऋषि लोग आश्रमा म रहकर यज्ञ करते थ और क्षत्रिय पुत्र उनके यज्ञा की रक्षा करते थे। यज्ञो के नष्ट करने वाले लोग धम और राज्य के शत्रु समझे जाते थे और नष्ट कर दिये जाते थे। रामायण काल का यह सरल सा धार्मिक चित्र है, जिसे हम रामायण के पूर्वार्द्ध म पग-पग पर चित्रित पाते हैं।

महाभारत के समय की धार्मिक व्यवस्था इतनी सरल नहीं थी। महाभारत मे हम अनेक देवताओ का वणन तो पाते ही हैं देवताओ के परस्पर सघर्ष की चर्चा भी पाते हैं। इससे यह सूचित होता है कि भिन्न-भिन्न देवताओं को पूजने वाल वग अपनी महिमा को बढ़ाने के लिए देव ताओं के सघर्ष की कल्पना करके अपने आराध्यदेव को विजयी बनाते थे। ऋषियो के आश्रमो और उनके यज्ञा की रामायण जैसी चर्चा हमें महाभारत म नहीं मिलती। प्रतीत होता है कि वे ऋषि श्रणी के महात्मा उस समय दुर्लभ हो गये थ। केवल व्यास मुनि कभी-कभी सांसारिक कार्यों में दखल देने के लिए आ जाते थे परन्तु यह भी वस्तुत उनका पारिवारिक मामला ही था। महाभारत के समय म एक नई बात यह दृष्टि

गोचर होती है कि विष्णु नाम से भगवान् की महिमा का प्रचार बढ गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत काल मे धम का रूप अधिक कठिन और पचाला हो गया था। यह बात महाभारत मे यक्ष युधिष्ठिर सवा के निम्नलिखित श्लोक से बिलकुल स्पष्ट होती है—

'श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना ।
नको मुनियस्य वच प्रमाणम ॥
धमस्य तत्त्व निहित गहायाम ।
महाजनो येन गत स पन्था ॥

श्रुतियाँ अनेक हैं। स्मृतियाँ भी अनेक हैं। ऐसा कोई मुनि नही जिसे एकमात्र प्रमाण माना जाय। धम का रहस्य अत्यन्त गम्भीर है। इस कारण उसी को सन्माग समझना चाहिए, जिस पर महापुरुष चलते रहे हैं।

सामाजिक अवस्था—(२) रामायण और महाभारत के समयों की सामाजिक अवस्थाओं की तुलना से भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि समाज के उन सवसम्मत आदर्शों का ह्रास हो गया था जिनका उज्ज्वल चित्र हम रामायण म पाते हैं। रामायण के समय में सत्य और असत्य उचित और अनुचित में भेद करना आसान था। प्रत्येक प्रजाजन भी समझ सकता था कि ककेयी का काम बुरा और सीता का अच्छा था। उसके लिए यह निश्चय करना भी कठिन नही था कि राम का व्यवहार आर्योचित और रावण का व्यवहार राक्षसोचित था। जब राम और रावण म युद्ध हुआ तो राघव वश के कोई भाय विरोधी रावण के साथी बनकर राम को पराजित करने के लिए नही पहुँचे। जब भरी सभा म द्रौपदी का अपमान हुआ तब भीष्म और द्रोण जसे बुजुर्गों को यह कह कर अपने मौन का समथन करना पडा कि—

अथस्य पुरुषो दास दासस्त्वर्थो न कस्यचित ।
इति सत्य महाराज बद्धोस्म्यर्थेन कौरव ॥

मनुष्य धन का दास है धन मनुष्य का दास नहीं। क्या कहूँ महाराज मैं धन द्वारा कौरवो के हाथ बिका हुआ हूँ।

महाभारत के समय ब्राह्मण लोग क्षत्रियों की सेनाओं में भाकर लड़ते थे क्षत्रिय खुला मद्यपान करते थे जुआ खेलते थे और स्त्रियों का अपहरण करके आसुर विवाह भी करते थे। इस तरह मनुष्यों की व्यक्तिगत स्वाधीनता खूब बढ़ गई थी। पुत्र पिताओं का तिरस्कार करते थे और भाई भाइयों से द्रोह करते थे। वर्तमान समाजशास्त्र की भाषा में हम कह सकते हैं कि मानव की स्वतन्त्रता अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई थी। अर्वाचीन बुद्धिवाद के अनुसार इस युग को ऊँचे दर्जे का बुद्धि स्वातन्त्र्य (Freedom of thought) कह सकते हैं।

(३) रामायण से महाभारत के समय में तीसरा बड़ा भेद यह दृष्टिगोचर होता है कि जातियों और वर्णों के परस्पर मिश्रण से भारतीय जनसमाज में विविधता उत्पन्न हो गई थी। रामायण काल में आर्यों और राक्षसों को दो विभिन्न दलों में बटा हुआ पाते हैं। सम्भवतः राक्षस लोग भी प्राचीन आर्यों के धर्मच्युत वंशज ही थे तो भी उनकी एक अलग श्रेणी बन गई थी। ऋग्वेद काल के आर्य और दस्यु अब आर्य और राक्षस इन दो परस्पर विरोधी संकेतों से सूचित किये जाते थे। यह रामायण काल की स्थिति थी। महाभारत काल में हम आर्यों और राक्षसों का विवाह सम्बन्धों द्वारा परस्पर मिश्रण पाते हैं। ऐसे सम्बन्धों का एक दृष्टान्त घटोत्कच था जो आर्य वंशज भीमसेन और राक्षस वंशज हिडम्बा का पुत्र था। इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त महाभारत में और भी मिलते हैं। इनके अतिरिक्त महाभारत में जिन भिन्न-भिन्न जातियों के नाम मिलते हैं उनका कुछ परिचय निम्नलिखित श्लोक से प्राप्त होता है—

'यवनाश्चीन काम्बोजा दारुणा म्लेच्छजातयः।
सकृद्ग्रहा कुलत्थाश्च हूणाः पारसिकैः सह ॥
तथैव रमणाश्चीनाः तथैव दशमालिकाः।
सवशाः यवनाः राजन् शूराश्चैव खिम्यतः।

इन श्लोकों से प्रतीत होता है कि महाभारत के भीष्मपर्व के लिखे जाने के समय भारत निवासियों का निम्न जातियों से सम्पर्क था—

यवनाश्वीन काम्बोज सद्रुह कुलत्य हूण पारसिक रमणाश्वीन दग मालिक सर्वन यवन और पूर। यह ठीक है कि महाभारत म कुछ अश प्रक्षेपक के रूप म पीछे से भी मिलाये जाते रहे। परन्तु जिन जातियो कें राजामा मौर योद्धामो ने दोनो भोर से महाभारत म भाग लिया उन पर ध्यान देने से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाभारत के मार्यों के मित्रता मौर विवाह मादि के सम्बन्ध जाति भौर देग की सीमाम्रो का मति क्रमण करके बहुत मधिक विस्तृत हो गय थे। यही कारण था कि माय मौर मनाय का स्पष्ट मौलिक भेद महाभारत म दृष्टिगोचर नही होना। साथ ही हमें यह भी मानना पडता है कि महाभारत के समय की भार तीय सस्कृति बहुत मधिक समृद्ध मौर विस्तृत हो गई थी। कत्तव्याकत्तव्य शास्त्र मौर तत्वज्ञान के सम्बन्ध मे महाभारत म जो विविधता पाई जाती है, उसका एक मुख्य कारण यह भी हुमा कि भय जातियों से माय जाति का सम्पक बहुत मधिक बढ गया था।

(४) जिस मानसिक विकास की मोर मैंने ऊपर निर्देश किया है उसका निदशन करना हो तो माप महाभारत के भगवद्गीता विदुर नीति शान्तिपर्व मादि ज्ञानात्मक भागो को पढ जाइये। उनको पढने से प्रतीत होता है कि रामायण काल का सारभूत मौर सरल कर्त्तव्यशास्त्र मौर तत्वज्ञान फैलता मौर विकसित होता हुमा बडे विशाल रूप म मा गया है। मकेली भगवद्गीता ही उस मानसिक विकास को सूचित करन के लिए पर्याप्त है जा त्रता युग की समाप्ति के मध्य म माय जाति म हुमा। शान्तिपव को पढकर हम उस माश्चयजनक राजनतिक प्रगति का परिचय प्राप्त करते हैं जो उस समय क मार्यों मे हो रही थी। वह प्रगति सवतोमुखी थी। शान्तिपव को पढने स हमारे सामन उस समय की समृद्ध मौर विस्तृत भारतीय सस्कृति का सुन्दर चित्र खिच जाता है। वह चित्र रामायण काल की मपेक्षा बहुत मधिक पचीला है परन्तु साथ ही कई गुणा मधिक विविधतापूण मौर गहरे रगो से पूण है। हम उमसे महाभारतकालीन भारतीय राष्ट्र की वास्तविक दशा का पूरा-पूरा मनु

मान लगा सकते हैं। विचारों में बारीकी और नफासत आ गई है। हर बात के बालों की खाल निकाली जाती थी परन्तु चरित्र में और कर्मों में बहुत शिथिलता आ गई थी।

(५) राजनीति के क्षेत्र में भी महाभारत का काल रामायण काल की अपेक्षा बहुत अधिक विविधतापूर्ण है। रामायण काल की राज्य-पद्धति सभी प्रदेशों में प्राय एक सी थी। उसे हम राज्यसत्तात्मक शासन-पद्धति कह सकते हैं। राजा राज्य करता था आचार्य पुरोहित और मंत्री उसे सलाह देते थे और सहायता करते थे। रामायण में अनेक प्रकार की शासन-पद्धतियों के चिह्न नहीं मिलते। राज्य प्रणालियों की छानबीन ही रामायण में नहीं की गई सामान्य रूप से राजाओं के धर्म बतलाये गये हैं। राजा अच्छा हुआ तो राज्य अच्छा राजा बुरा हुआ तो राज्य बुरा। रामायण की राजनीति का यही सार है। महाभारत की राजनीति ऐसी सरल नहीं है। उस समय हम शासन-पद्धति को कई श्रेणियों में बँटा हुआ पाते हैं। रामायण में केवल राजा से महाभारत में सम्राट नाम के राजाधिराजों का भी वर्णन मिलता है। सभापर्व में लिखा है—

गृहे गृहे हि राजान स्वस्य स्वस्य प्रियकरा ।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट्शब्दो हि कृच्छ्रभाक् ॥

अपनी परिमित सीमाओं में राज्य करने वाले राजा तो घर-घर में परन्तु वे सम्राट पदवी के अधिकारी नहीं। सम्राट पद का प्राप्त करना बहुत कठिन है। जब पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ का संकल्प किया तब सम्राट् की पदवी जरासन्ध को प्राप्त थी। श्रीकृष्ण की सहायता से भीमसेन ने जरासन्ध का वध कर दिया तब सम्राट की पदवी महाराज युधिष्ठिर को प्राप्त हो गई। राजा और सम्राट में वही भेद था जो आज 'किंग' और 'एम्परर' में है रामायण में राजा और सम्राट का कोई भेद दिखाई नहीं

राजनीति क्षेत्र में रामायण काल से महाभारत काल में जो दूसरा भेद आ गया था वह यह था कि जहाँ रामायण के समय में 'गण'

(रिपब्लिक) की कोई चर्चा नही मिलती वहाँ महाभारत म उनकी एक से अधिक स्थान पर चर्चा मिलती है। जब अर्जुन उत्तर दिशा मे राजाओं को जीतने गया तो उसने पर्वतो म जाकर गण लोगो पर भी विजय प्राप्त की।

'पौरवंयुधिनिर्जित्य दस्यून पर्वतवासिन ।
गणानुत्सवसंकेतानजयत सप्त पाण्डव ॥

इस श्लोक से प्रतीत होता है कि पौरव को जीतने के पश्चात पर्वत म रहने वाले उत्सव सकेत नाम के सात गणो को जीता। गण शब्द से यहाँ प्रजातन्त्र राज्य का ही बोध होता है। इसम पहले कुछ इतिहास लेखक सन्देह करते थे परन्तु अब प्राचीन सस्कृत साहित्य के गम्भीर अनुशीलन से यह सिद्ध हो गया है कि सघ और गण शब्द प्राचीन काल मे प्रजातन्त्र राज्य (रिपब्लिक) के ही सूचक थे। प्राचीन ग्रन्थो के अध्ययन से यह विदित होता है कि गण राज्य भी अनेक प्रकार के होते थे उनमे से कुछ आयुधोपजीवी कहलाते थे तो कुछ शास्त्रोपजीवी। इस प्रकार हम महाभारत काल म शासन प्रणालियो म भी बहुत भिन्नता और विविधता पाते हैं।

रामायण और महाभारत के काल निर्णय के सम्बन्ध म विद्वानो में बहुत सा विवाद होता रहा है और अब भी चल रहा है। यहाँ हम उसकी पुनरुक्ति न करके भारतीय सस्कृति के विद्यार्थियो के लिए दो अन्य प्रश्नो पर थोडा सा प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं।

पहला प्रश्न यह है कि क्या रामायण और महाभारत जिस रूप में आज उपलब्ध होते हैं वे वाल्मीकि और व्यास के बनाये हुए हैं? इस प्रश्न का उत्तर स्वय रामायण और महाभारत म मिलता है। रामायण के उत्तरकाण्ड का यह श्लोक उसकी रचना के क्रम को काफी स्पष्ट कर देते हैं—

सन्निबद्ध हि श्लोकानां चतुर्विंशा सहस्रकम।
उपाख्यानशतं चैव भार्गवेणतपस्विना ॥

प्राविप्रभृति च राजकं च सग शतानि च ।
काण्डानि षट् कृतानीह सोत्तराणिमहात्मना ॥'

वाल्मीकि मुनि ने रामायण के मुख्य कथा और उपाख्यान मिलाकर २४ सहस्र श्लोक बनाये जो छः काण्डों में बँटे हुए थे और उत्तर भी बनाया ।

इस श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि रामायण के छः काण्ड वाल्मीकि मुनि ने बनाये और उत्तरकाण्ड पीछे बनाकर मिलाया गया इसी कारण उसे सर्वोत्तरम् लिखने की आवश्यकता पड़ी। दूसरी बात जो स्पष्ट हो जाती है यह है कि उपाख्यान राम की मूलकथा से सर्वथा पृथक हैं। प्रतीत होता है कि ये पीछे से समय-समय पर जोड़े जाते रहे। तीसरी बात श्लोकों की सख्या है। रामायण की जो हस्तलिखित पुरानी प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं उनमें श्लोकों की पूर्ण सख्या बहुत भिन्न भिन्न है परन्तु उनमें से कोई भी २४ हजार तक परिमित नहीं है। सब थोड़ी बहुत न्यूनाधिक ही हैं। इन सब बातों के आधार पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वाल्मीकिकृत रामायण का वर्तमान रूप उसके मूल रूप से बहुत भिन्न है। यह सारा ग्रन्थ किसी एक ही समय की रचना नहीं उसमें न केवल नई-नई रचनाओं का मिश्रण होता रहा बल्कि उसके सघटन में भी भेद आता रहा। उत्तरकालीन सस्कृत काव्यशास्त्रों के अनुसार सर्गों में बटवारा भी उसी प्रक्रिया का परिणाम है।

महाभारत के वर्तमान रूप के विकास के सम्बन्ध में किसी बाह्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। महाभारत में स्वय कहा कि व्यास मुनि ने प्रारम्भ में ८८०० श्लोक बनाये। वैशम्पायन ने विस्तार करके श्लोकों की सख्या २४ ०० की।

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारत सहिताम् ।
उपाख्यानैर्विना तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥

वैशम्पायन ने २४ सहस्र श्लोकों की भारत सहिता तैयार की जो भारत कहलाई। व्यास मुनि ने अपने काव्य का नाम जय रखा था—

"नारायण नमस्कृत्य नरचव नरोतमम ।
देवीं सरस्वतींचव ततो जयमदीरयेत ।।

इस श्लोक म महाभारत का जय नाम से निर्देश है। अन्त म नव-कवियो और कहानी कहने वाले सूतों न उसमे उपाख्यान जोडकर भारत को महाभारत का रूप दे दिया। इस समय जो महाभारत उपलब्ध होता है उसम एक लाख से अधिक श्लोक हैं।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि रामायण और महाभारत किसी विशेष परिमित-काल या शताब्दी के प्रतिनिधि न होकर अनेक शताब्दियो म विस्तृत और विकासशील सस्कृति के निदर्शक महाकाव्य हैं।

इन दोना आकर ग्रन्थो के पौर्वापय के बारे म अब कोई विशेष मत भेद नहीं रहता। महाभारत म केवल रामायण के पात्रो का नामोल्लेख ही नहीं रामायण की पूरी कथा ही सक्षिप्त रूप म वतमान है। रामायण से देश के विषय म जितने भौगोलिक ज्ञान की सूचना मिलती है महाभारत म उससे बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त होता है। महाभारत में जिन हूण शकादि जातियो का वर्णन है रामायण में उनका कोई चिह्न नही है इस कारण यह मानना ही युक्तिसगत है कि रामायण और महाभारत के पौर्वापय के बारे में हमारे देश की पुरानी परम्परा ही यथाथ है।

नवाँ अध्याय

खण्ड प्रलय और उसके पश्चात्

महाभारत सग्राम का भारतवर्ष पर जो प्रभाव हुआ उसे हम भारतीय सभ्यता और विभूति का खण्ड प्रलय नाम से निर्दिष्ट कर सकते हैं। युद्ध के आरम्भ में अर्जुन ने कृष्ण के सम्मुख जो आशका रखी थी वह सत्य सिद्ध हुई। अर्जुन ने आशका प्रकट की थी कि युद्ध से जो कुल-नाश होगा उससे देश भर मे अधर्म और अनाचार फैल जायँगे जिससे अन्त में सब को नरक में जाना पड़ेगा। महाभारत में केवल एक कौरवकुल का नहीं अपितु सैकड़ो कुलो का सर्वनाश हो गया। आचार्य और नरेश ब्राह्मण और क्षत्रिय सेनापति और सिपाही सब नष्ट हो गये। शास्त्रास्त्र विद्या और अनन्त ऐश्वर्य मिट्टी में मिल गये। युद्ध के अन्त में भगवान् कृष्ण के साथी यादव लोग शराब के नशे मे मस्त होकर आपस में लड़ गये और नष्ट हो गये। उस दुःख से दुखी होकर श्रीकृष्ण जगल में चले गये और एक शिकारी के तीर से मारे गये। इतना विनाश हो जाने पर जब विश्वविजयी अर्जुन कृष्ण के परिवार को लेकर द्वारिका से इन्द्रप्रस्थ की ओर जा रहा था तब डाकुओं ने उस पर हमला कर दिया और स्त्रियो को छीनकर ले गये। यह यदि भारत की मानवता का खण्ड प्रलय नहीं था तो और क्या था?

प्रलय से क्या बचा?—खण्ड प्रलय में सर्वनाश नहीं होता। कुछ भाग नष्ट हो जाता है और कुछ शेष बच जाता है। महाभारत ने भारतवर्ष का बहुत कुछ नष्ट कर दिया। नाम को पाण्डव जीत गये परन्तु वस्तुत वे भी परास्त हो गये। वह जीत उनके लिए हार से भी अधिक दुःखदायिनी सिद्ध हुई।

इतिहास के विद्यार्थियो के लिए यह एक बहुत आवश्यक और मनो

रजक प्रश्न है कि महाभारत के खण्ड प्रलय म से कौनसी वस्तु बच निकली ? केवल पंचभूत और मनुष्यों क शरीर ही बच पाये अथवा कुछ और भी बचा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि महाभारत के व्यापी विनाश म से एक एसी वस्तु बच निकली जिसने भारत देश के गौरव और जीवन की परम्परा को कायम रखा। वह वस्तु थी भारतीय सस्कृति। विभूति नष्ट हो गई परन्तु सस्कृति बच रही। यदि कहीं क्षत्रियों के परस्पर सघष म विचार भेद के कारण सस्कृति भी नष्ट हो जाती तो शायद महाभारत के पश्चात ही देश की यह दशा हो जाती जो ११ शताब्दियों पश्चात हो गई। दोनो ही दल एक धम और एक सस्कृति के उपासक थ इस कारण महाभारत सग्राम न सस्कृति की मर्यादा को मछूता छोड दिया। विभूति का नाश होन पर भी सस्कृति बच गई इसी का यह फल हुआ कि भारत नष्ट होकर भी बचा रहा। महाभारत जसे विनाशकारी युद्ध क पश्चात कालान्तर में अपनी प्राचीनतम परम्पराओं क अनुसार भारतीय राष्ट्र का फिर से समृद्धि की चोटी पर पहुँचना प्रमाणित करता है कि राष्ट्रों की असली जीवन-शक्ति उसकी सस्कृति म है। युग-युगान्तर के उतार चढाव के थपेडों को सहकर भी यदि भारतीय राष्ट्र आज तक जीवित है तो वह उसकी वदिक काल स लेकर अब तक के अत्यन्त दीर्घ समय म फली हुई सस्कृति के कारण ही है। राष्ट्र का सब कुछ नष्ट हो जाय परन्तु एक सस्कृति जीवित रह जाय तो उसके पुनर्जीवित होने की आशा रहती है और यदि इससे विपरीत सम्पूर्ण विभूति विद्यमान रह, परन्तु सस्कृति नष्ट हो जाय तो जाति का सवनाश असदिग्ध हो जाता है।

अब हम भारतीय वाङ्मय के उन महत्वपूर्ण ग्रन्थों पर दृष्टिपात करेंगे जिनस सूचित होता है कि महाभारत के पश्चात भारतीय सस्कृति क विकास की परम्परा जारी रही।

भगवद्गीता—हम देख आये हैं कि महाभारत किसी एक कवि की या एक समय की भी कृति नहीं है। उसका वतमान रूप अनेक शता-

कियों में अनेक निमाताओं की रचनाओं का परिणाम है। उसे कुछ लेखकों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति के विश्व-कोष की उपमा दी है। उसके समय को महाभारतकाल कहना संगत नहीं है। साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से उसे लम्बे समय में फैली हुई अनेक साहित्यिक कड़ियों की शृंखला कह सकते हैं। उस शृंखला की अन्तिम कड़ी कौनसी है, यह कहना कठिन है। फिर भी भाषा की प्रौढ़ता और भावों के विकास की दृष्टि से देखें तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि महाभारत रूपी शृंखला की आखिरी कड़ी वर्तमान भगवद्गीता है। कथानक के अनुसार तो भगवद्गीता मूल महाभारत का अंग होना चाहिये परन्तु हल्की सी विवेचनात्मक दृष्टि से भी देखें तो मानना पड़ेगा कि ऐसा सम्भव नहीं है। जिस समय दोनों ओर के योद्धा युद्ध के लिए उद्यत खड़े हैं, उस समय उनके बीच में खड़े होकर कृष्ण अर्जुन को १८ अध्यायों की गीता सुनायें या उसके प्रश्नों के लम्बे-लम्बे समाधान करें यह सम्भव नहीं। यह बात स्पष्ट है कि वर्तमान भगवद्गीता का मूलरूप प्ररणात्मक होगा विचारात्मक और प्रचारात्मक भाग उसमें पीछे से जोड़ा गया। इस कारण हम भगवद्गीता को किसी विशेष शताब्दी के विचारों का प्रतिनिधि न मानकर उसे भारतीय दार्शनिक विचारों की लम्बी शृंखला का अन्तिम निचोड़ मान लें तो अधिक संगत होगा। ऐसा मानने से भगवद्गीता का सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्त्व घटता नहीं बढ़ता ही है।

भगवद्गीता का मुख्य विषय यह है कि जब युद्ध के प्रारम्भ होने के समय अर्जुन रणक्षेत्र में खड़े हुए पितामह भीष्म, गुरु द्रोण, मामा शल्य, भाई दुर्योधन और अन्य सगे-सम्बन्धियों को देखता है तो उसका भावुक हृदय काँप जाता है और वह 'गाण्डीव' रथ में रखकर कृष्ण से कहता है कि मैं तुच्छ राज्य के लिए नर-हत्या नहीं करूँगा। फिर ये लोग जिन पर शस्त्र प्रहार करना पड़ेगा मेरे निकट सम्बन्धी हैं उन्हें मारकर मैं राज्य का क्या करूँगा। यह सामान्य रूप से युद्ध द्वारा कुल-नाश के दोषों को दिखाकर 'न योत्स्य' की घोषणा करके मौन हो जाता है।

जिस युद्ध के टालने का स्वय कृष्ण ने बहुत यत्न किया परन्तु दुर्योधन के दुराग्रह के कारण यह न टल सका उसके प्रारम्भ होने के समय अर्जुन की उस निबलता का देखकर कृष्ण उसे जो उपदेश देते हैं वह भगवद् गीता का एतिहासिक विषय है परन्तु उसी निमित्त से योगिराज कृष्ण उसके सामने जिस कर्मयोग का ऊँचा सिद्धान्त उपस्थित करते हैं वह अब भगवद्गीता का मुख्य विषय बन गया है। कर्मयोग की व्याख्या इतने विस्तृत रूप म की गई कि उसम वेद उपनिषद् और दर्शनों तक के सिद्धान्त वाक्यों का समन्वय हो गया है। यजुर्वेद म कहा है— 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतम्' कर्म करता हुआ ही सौ साल तक जीने की इच्छा करे। उपनिषदों का आदेश है कि कर्म की अपेक्षा ज्ञान और त्याग उत्कृष्ट है। गीता म दोनों का समन्वय करके यह बतलाया गया है कि निष्काम कर्म सबसे उत्कृष्ट है। कर्म तो अवश्य करो परन्तु उसके फल म आसक्त न हो। यही कर्म और त्याग का समन्वय गीता का मुख्य विषय है। इसी प्रकार गीता म ज्ञान और भक्ति का समन्वय करने का भी यत्न किया गया है। हमारे देश म उस समय विचारों की जितनी आस्तिक धारायें चल रही थी गीता म उन्हें एक शृखला म बाँध दिया गया था। भगवद्गीता को हम भारतीय संस्कृति के सिद्धान्त भाग का समन्वय ग्रन्थ कह सकते हैं।

दर्शन—एक समय था जब पश्चिम के विद्वानों और कुछ भारतीय विद्वानों ने यह मत प्रगट किया था कि भारतवर्ष म विचारों की स्वाधीनता और दार्शनिक रीति से चिन्तन का प्रचार पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से हुआ है। वह विचार भारत के दर्शन ग्रन्थों के अध्ययन ने निर्मूल सिद्ध कर दिया। भारत मे विचारो की स्वतन्त्रता प्राचीन काल से रही है। यह भारतीय संस्कृति का आवश्यक अंग है। प्राचीन दर्शन ग्रन्थ इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

प्राचीन दर्शन ग्रन्थ जो उपांग भी कहलाते हैं निम्नलिखित छः हैं—

नाम दर्शन	निर्माता
१ सांख्य	कपिल
२ योग	पतंजलि
३ वैशेषिक	कणाद
४ न्याय	गौतम
५ वेदान्त उत्तरमीमांसा	बादरायण
६ पूर्वमीमांसा	जैमिनि

यहाँ इन दर्शनों के पौर्वापर्य-निर्णय करने का स्थान नहीं है। विद्वानों में इनके समय के विषय में बहुत मतभेद है। परन्तु प्रायः सब सहमत हैं कि सबसे पहला दर्शन सांख्य है और अन्तिम उत्तरमीमांसा है। यह तो निश्चित ही मानना चाहिये कि सब दर्शनों के निर्माण-काल एक-दूसरे से काफी दूर हैं।

इन सभी का उद्देश्य भिन्न-भिन्न मार्गों से मोक्ष की प्राप्ति करने के साधन बताना है। सांख्य-दर्शन ज्ञान की प्रधानता मानता है और योग-दर्शन साधनों को। वैशेषिक पदार्थों के ज्ञान पर बल देता है और न्याय ज्ञान के साधन प्रमाणों पर। पूर्वमीमांसा मुख्य रूप से यज्ञों की विधि और उनमें प्रयुक्त होने वाली क्रियाओं के रहस्य तथा नियमों की व्याख्या करता है। उत्तरमीमांसा का दूसरा नाम वेदान्त है। उसमें ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण किया गया है। सब दर्शनों का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति होते हुए भी अनेक मतभेद हैं। मतभेद सिद्धान्त विषयक भी हैं और विचार पद्धति विषयक भी। अपने मत की पुष्टि खूब तत्परता से की गई है। विचारों की शैली इतनी गम्भीर और पैनी है कि पश्चिम के विद्वान् उसे देखकर चकित हो जाते हैं। प्रत्येक दर्शनकार ने जिस विषय पर विचार किया है उसकी गहराई तक पहुँच गया है।

दर्शन ग्रन्थ मूलरूप से विचारात्मक हैं। उनसे संस्कृति के अन्य पहलुओं पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। सांख्य-दर्शन में जो दृष्टान्त दिये गये हैं केवल उनसे उस समय की जन-श्रुतियाँ और लोक-गाथाओं का

मानव धर्मसूत्रों के आधार पर बनाई गई थी। अन्य स्मृतियों के आधार भी प्राय प्राचीन सूत्र ग्रन्थों में ही विद्यमान हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि मानव धर्म सूत्र के रचयिता वे मनु भगवान् थे जिन्होंने देश में राज्य की प्रथम स्थापना की।

महाभारत का शान्तिपर्व अपने आप में एक महती स्मृति है। उसमें मनुष्य के व्यक्तिगत सामाजिक और राजनीतिक जीवन के पथदर्शक सिद्धान्तों का बहुत विशद विवेचन किया गया। स्मृतियाँ और महाभारत का शान्तिपर्व हमारे देश की उन प्राचीन युगों की अवस्था का विस्तृत चित्र उपस्थित करते हैं।

स्मृतियों की विशेषता यह थी कि वह छन्दोबद्ध थीं और मनुष्य जीवन से सम्बन्ध रखने वाले सब विभागों पर व्यवस्था देती थीं। वह आसानी से समझ में आ सकती थीं और अपने आप में पूर्ण थीं। एक प्रकार से धर्मशास्त्र सिविल कोड और क्रिमिनल कोड का समुच्चय थीं।

स्मृतियों की दूसरी विशेषता यह थी कि वह समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती थीं। स्मृतियों की इतनी अधिक संख्या होने का मुख्य कारण यह था कि समय की आवश्यकता को अनुभव करके विद्वानों ने उसके अनुसार ही स्मृतियाँ बनाईं। यही कारण है कि अनेक विषयों पर स्मृतियों में मतभेद है।

धीरे-धीरे स्मृतियें ही राजा और प्रजा की पथदर्शक बन गईं। राज बने और बिगड़ गये कई विदेशी विजेता भारत भूमि पर छाकर विलीन हो गये परन्तु जाति का सामाजिक और नैतिक जीवन स्मृतियों की लीक पर ही चलता रहा। यहाँ तक कि जब देश में अंग्रेजी राज्य हुआ और उन्हें कानून बनाने की आवश्यकता पड़ी तो व्यक्तिगत और सामाजिक नियमों के लिये स्मृतियों को पथदर्शक बनाना पड़ा। इस कार्य में मनु और याज्ञवल्क्य से विशेष सहायता मिली। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्मृतियों से भारतीय संस्कृति के अविच्छिन्न प्रवाह के चलाने में विशेष सहयोग मिला।

नियंत्रित जीवन—धर्मसूत्रों के अनुसार स्मृतियों में भी जाति जीवन का आधार आश्रम-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था को रखा गया है। उनमें चारों आश्रमों और वर्णों का रूप सर्वथा स्पष्ट और सीमाबद्ध हो गया था। ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों और ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की सीमाएं और कर्तव्य सर्वथा निश्चित और दृढ़ हो गये थे। यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि वर्ण-व्यवस्था के दृढ़ हो जाने पर भी कर्मानुसार मनुष्य के एक वर्ण से दूसरे वर्ण में परिवर्तित होने को उचित माना जाता था। मनुस्मृति में लिखा है—

> शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
> क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च।'

अच्छे कर्मों से मनुष्य ऊँचे वर्ण में और खोटे कर्मों से निचले वर्ण में जा सकता था।

स्त्रियों की स्थिति समाज में बहुत ऊँची मानी जाती थी। मां तो उस अवस्था माना जाता था और पिता भर्ता और पति का कर्तव्य था कि वे हर स्थिति में उसकी रक्षा करें परन्तु समाज में उनका पद बहुत ऊँचा था। मनु ने कहा है—

> "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
> यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रिया॥'

जहाँ नारियों की पूजा होती है वहाँ देवता रमण करते हैं और जहाँ उनकी पूजा नहीं होती वहाँ सब कर्म निष्फल जाते हैं। स्त्रियों को अबला मानने और उनकी रक्षा की ओर पुरुषों का ध्यान खींचने के मुख्य कारण थे भारत पर सदियों तक विदेशियों के सतत आक्रमण और राजनीतिक शासन। प्राय आक्रान्ता लोग विजित देश की स्त्रियों को भी लूट का माल समझने लगते हैं। ऐसे समयों में सभी पुरुषों का विशेष कर्तव्य हो जाता है कि वे नारियों की रक्षा करें और उनका विशेष ध्यान दें। दुर्भाग्य की बात यह हुई कि देश भर लगभग आठ सदियों तक विदेशी

राज्य रहा। आक्रमण तो उससे भी पहले होते रहे थे। परिणाम यह हुआ कि जो नियम एक संकट काल के लिये बनाये गये थे लगभग स्थायी बनकर जाति के लिये हानिकारक बन गये। समाज में स्त्री जाति का वह आदर न रहा जो वैदिक काल में था और जिसकी परम्परा स्मृतियों के रचना काल तक विद्यमान थी।

स्मृतियों के विवाह सम्बन्धी नियम बहुत उदार थ। विवाह आठ प्रकार क माने गये थ जिनमे से दव उत्तम गान्धर्व मध्यम और असुर निकृष्ट था। पुरुष और स्त्री का स्वेच्छापूर्वक किया हुआ विवाह गान्धर्व कहा जाता था। उसका क्षत्रियों को अधिकार था। नारद स्मृति ने नियोग की भी अनुमति दी है। परद की कुप्रथा का स्मृतियों में कहीं प्रतिपादन नहीं मिलता। कई स्मृतियों म विधवा विवाह का निषेध है परन्तु कई स्मृतिया म विशेष दशाओं में उसकी अनुमति दी गई है।

शासन-व्यवस्था—स्मृतियों म जातियों के लिये राष्ट्र शब्द का प्रयोग है। राष्ट्र का मुख्य शासक राजा था जो मंत्रियों और सेनापति की सहायता से राज्य करता था। स्मृतियों म कहा गया है कि राजा सदाचारी दयालु और सच्चा होना चाहिए। उसे राजनियमों के चलाने का तो अधिकार था परन्तु राजनियम बनाने का अधिकार नहीं था। उसका कर्त्तव्य श्रुतियों और स्मृतियों में बताये गये राजधर्मों का पालन करना और कराना था। स्मृतियों म गणराज्यों की चर्चा नहीं है। प्रतीत होता है कि महाभारत के पश्चात् गणराज्य लुप्त हो गय थे।

स्मृतियों मे राजा और राजदण्ड की बहुत महिमा बतलाई गई है। राजा को देवताओं का प्रतिनिधि माना गया है और राजदण्ड को प्रजा का रक्षक। राजदण्ड कई अपराधों का बहुत नम और कई अपराधों का बहुत कठोर था। बहुत से आचार सम्बन्धी अपराधों का प्रायश्चित से मार्जन कर दिया जाता था। चोरी आदि जुर्मों में हाथ काटने तक के दण्ड का विधान है। लेन-देन के नियम बहुत सुथरे और दृढ थे साक्षी के

लिये सत्य बोलना आवश्यक था। जो साक्षी झूठ बोले उसे बहुत बड़ा दण्ड दिया जाता था।

कर की व्यवस्था बहुत नम्र और न्यायपूर्ण थी। राजा प्राय प्रजा से पृथ्वी की उपज का षष्ठांश छठा भाग लेता था। राजा के लिये यही आदेश था कि वह प्रजा से बहुत हल्का कर ले और जो कर ले उसे प्रजा के लिये ही व्यय करे। उसको अपने भोग-विलास की सामग्री बढ़ाने म उपयोग न करे।

धर्म के लक्षण—स्मृतियों के समय की धार्मिक भावना का समझने के लिये यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उनमें धम की और कत्तव्या कर्तव्य निणय की क्या कसौटी बतलाई है। मनुस्मृति मे कहा है—

> 'श्रुति स्मृति सदाचार
> स्वस्य च प्रियमात्मन
> एतत्चतुर्विधम्प्राहु
> साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम ।

वेद स्मृति सदाचार और अपनी आत्मा को प्रिय—ये चार धम के साक्षात् लक्षण हैं। धम का यह लक्षण अत्यन्त व्यापी है। स्मृतियो ने केवल श्रुति और स्मृति तक ही धर्म की मर्यादा को सीमित नही किया था सदाचार परम्परा और अपनी आत्मा के शब्द को भी पूरा स्थान दिया था।

प्रचार करते थे। बहुत प्रभावशाली वक्ता थे। राजा और प्रजा दोनों पर इनके उपदेशों का असर समान रूप से होता था। वस्तुतः महावीर स्वामी ही विस्तृत रूप में जनमत के प्रचारक हुए।

महात्मा बुद्ध—महात्मा बुद्ध का जन्म ईसा से ५६७ वर्ष पूर्व कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के घर हुआ। वे शाक्य वंशज थे। उनकी माता मायादेवी अपने पिता के घर जा रही थी कि कपिलवस्तु से १५ मील दूर लुम्बिनी वन में बालक का जन्म हुआ। उसका जन्म का नाम सिद्धार्थ था। बालक के जन्म के ७ दिन पश्चात् ही माता का देहान्त हो गया।

बचपन से ही सिद्धार्थ बहुत चिन्ताशील और शान्त स्वभाव का था। उसे संसार की ओर आकृष्ट करने के लिये उसके पिता ने छोटी आयु में ही यशोधरा नाम की एक गुणवती कन्या से विवाह कर दिया।

विवाह हो जाने पर भी सिद्धार्थ की मनोवृत्ति में कोई अन्तर न आया। वह संसार के सुखों से अलग-थलग अपने विचारों में मग्न रहता था। विवाह के दसवें वर्ष उसके पुत्र हुआ जिसका नाम राहुल रखा गया। पिता ने समझा था कि पत्नी और पुत्र के मोह में फँसकर लड़के का मन संसार की ओर खिंच जायगा। परन्तु परिणाम उल्टा ही निकला। २९ वर्ष की आयु में सिद्धार्थ शान्ति और अमरता की खोज में घर से निकल पड़ा।

चिरकाल तक सिद्धार्थ ने सच्चे सुख की प्राप्ति के लिये तपस्या की। शरीर को अनेक कष्ट दिये और आने वाले प्रलोभनों को परास्त किया परन्तु जब देखा कि केवल शारीरिक तप से शान्ति की प्राप्ति नहीं होती तो शरीर को कष्ट देना छोड़कर ध्यानावस्थित हो गये। कुछ समय पश्चात् वे गया से सारनाथ चले गये और चिन्तन जारी रखा। अन्त में यहाँ उन्हें सत्य का बोध हो गया जिससे वे बुद्ध पदवी को प्राप्त हो गये। उसके पश्चात् वे संसार में गौतमबुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए। सारनाथ में उन्होंने लोगों को अपना अनुभूत सत्य का पहली बार उपदेश दिया। वह इतिहास में 'धर्म चक्र प्रवर्तन' के नाम से प्रसिद्ध है।

गौतम बुद्ध के उपदेशों का सारांश यह था कि सच्चा और संयम वाला जीवन व्यतीत करना सच्चा धर्म है। ईर्षा-द्वेष प्रतिहिंसा आदि महान् पाप हैं दुःख के हेतु हैं। प्राणिमात्र से प्रेमपूर्वक व्यवहार परमधर्म है। यज्ञादि के व्यर्थ आडम्बरों से मोक्ष या सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। यज्ञ में पशु हिंसा घोरतम पाप है। जो अच्छे कर्म करे वही सच्चा ब्राह्मण और धर्मात्मा कहला सकता है। धर्म का दम्भ करने से कोई धर्मात्मा नहीं हो जाता।

महात्मा बुद्ध ने मनुष्यों को अष्टमार्ग का उपदेश दिया—

(१) शुद्ध दृष्टि (२) शुद्ध संकल्प (३) शुद्ध वाणी (४) शुद्ध व्यवहार, (५) शुद्ध जीविका (६) शुद्ध कर्म (७) शुद्ध मन और (८) शुद्ध ध्यान।

महात्मा बुद्ध का व्यक्तित्व बहुत महान् और आकर्षक था। उनकी वाणी में ऊँचे जीवन और विशुद्ध आत्मा का तेज था। एक विशेष बात यह थी कि उन्होंने विद्वानों की भाषा संस्कृत का आश्रय छोड़कर लोकभाषा में प्रचार किया। लोग उनके व्यक्तित्व से और सरल भावों से आकृष्ट होकर उनके अनुयायी बन जाते थे।

प्रचार के लिये उन्होंने संघों की स्थापना की जिनमें भिक्षु लोग सम्मिलित होते थे। ४५ वर्षों तक निरन्तर मनुष्यों को सत्य धर्म का मार्ग दिखाकर महात्मा ने ८० वर्ष की आयु में कुशी नगर में शरीर त्याग किया। इसे बौद्ध ग्रन्थों में परिनिर्वाण की संज्ञा दी है।

महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों ने धर्म प्रचार जारी रखा। भिक्षुओं और भिक्षुणियों की संख्या बढ़ती गई। भिक्षुओं को दीक्षा लेते समय यह तीन वाक्य बोलने पड़ते थे—

"धम्मं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि
बुद्धं शरणं गच्छामि"

ये बौद्ध भिक्षु ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते थे काषायवेष पहिनते थे

और भिक्षा-वृत्ति से निर्वाह करते थे।

कुछ समय व्यतीत होने पर बौद्ध धर्म दो विभागों में विभक्त हो गया। एक का नाम महायान हुआ दूसरे का हीनयान। ये दो भाग बौद्ध विद्वानों के परस्पर मतभेदों के कारण बने। दोनों में मुख्य भेद निम्न लिखित थे—

हीनयान—यह महात्मा बुद्ध के सरल सिद्धान्तों और उनके प्रचार के ढंग पर आश्रित था। वे आचरण पर बल देते थे पूजा के बखेड़ों को मिटाकर शुद्ध जीवन का प्रचार लोकभाषा (पालि भाषा) द्वारा करते थे और लोगों को बहु देवतावाद के बखेड़े से बचाना चाहते थे। भिक्षुओं में कुछ ऐसे विद्वान् प्रविष्ट हो गये जिन्होंने यह आवश्यक समझा कि बौद्धों के लिये महात्मा बुद्ध की मूर्ति की पूजा अवश्य रखी जाय और पालि के साथ संस्कृत भाषा का भी आश्रय लिया जाय। उन्होंने प्रचलित मध्य-कालीन अवतारवाद के अनुकरण में बोधिसत्वों की भी कल्पना की। बोधिसत्व महान् आत्मा कहलाये जो बुद्ध बनने का यत्न करते रहे। यह थी महायान की विचारधारा जिसके विपरीत प्रारम्भिक विचारधारा को घटिया मानकर हीनयान का नाम दिया गया।

आपसी मतभेदों को मिटाने के लिये समय-समय पर बौद्ध विद्वानों की सभायें होती रहीं। उनमें से ४ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इनमें में बहुत प्रसिद्ध वह सभा थी जो महाराजा अशोक के समय में आचार्य उपगुप्त की अध्यक्षता में हुई। उस सभा से जो प्रेरणा मिली उसका ही परिणाम हुआ कि बौद्ध धर्म के प्रचारक काश्मीर गऊघाट दक्षिण भारत और लंका आदि देशों में प्रचारार्थ भेजे गये।

भारतीय संस्कृति पर बौद्धमत का प्रभाव—वस्तुतः महात्मा बुद्ध महान् सुधारक थे। उनका कोई नया मत चलाने का मंशा नहीं था और न यही विचार था कि उनकी पूजा की जाय परन्तु मानवी प्रकृति के अनुसार उनके शिष्यों ने उनके धर्म सन्देश को एक नये मत का आधार बना लिया जिसकी एक विशेषता यह हुई कि उसमें बुद्ध की

मूर्ति की पूजा प्रचलित हो गई। सम्भवत देवताओं की मूर्तियाँ तो उस से पूर्व भी प्रचलित थीं और उनकी पूजा भी होती थी परन्तु जिस विस्तृत और सगठित रूप से बौद्ध मत म बुद्ध की मूर्ति की पूजा आरम्भ हुई वह अपूर्व थी।

उस मूर्ति-पूजा ने अनेक रूप धारण किये। एक तो महात्मा बुद्ध की अनेक रूपों म मूर्तियाँ बनने लगी। कहीं वे ध्यान की मुद्रा म थे तो कहीं प्रचार की मुद्रा म। फिर अनेक बोधिसत्वों की भी मूर्तियों का निर्माण हुआ और उन मूर्तियों की स्थापना के लिये सुन्दर मन्दिरो स्तूपों और चैत्यो की रचना होने लगी। फलत बौद्ध मत के प्रचार और विस्तार के साथ-साथ देश म स्थापत्य कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई।

इसी समय जैन मतानुयायी भी दिगम्बर और श्वेताम्बर इन मार्गों म बँट गये और वे भी अपने तीर्थकरों की मूर्तियाँ स्थापित करने लगे। दिगम्बर मूर्तियों का निर्माण उसी समय आरम्भ हुआ।

यह दोनो मत समयान्तर म नास्तिक कहलाने लगे। प्रारम्भ म वे ईश्वरविरोधी नहीं थे। महात्मा बुद्ध ने कभी ईश्वर की सत्ता का खण्डन नहीं किया। परन्तु जब बुद्ध की मूर्ति की पूजा का ज़ोर हो गया तब उनके अनुयायी युक्तियों द्वारा ईश्वर का खण्डन करने लगे। इसी प्रकार जैन विद्वानो ने भी ईश्वर के खण्डन को अपने दर्शन का हिस्सा बना लिया। यों पुराने छ: दर्शनों में ईश्वर से इनकार करने वाले बौद्ध और जैन दर्शनों की बुनियाद पड़ी।

महात्मा बुद्ध के उपदेशों ने प्राचीन धर्म के आचार भाग को जागृत करके देश म नयी सांस्कृतिक स्फूर्ति उत्पन्न कर दी। भिक्षु लोग केवल बौद्ध सिद्धान्तों के ही प्रचारक नहीं बने वे जनता के शिक्षक भी बन गये। धीरे धीरे जैन और बौद्ध दोनो ही मतों का प्रभाव साधारण प्रजा से आगे बढ़कर राजाओं तक पहुँच गया और उनके प्रभाव से विशेष प्रकार की स्थापत्य-कला शिल्प और साहित्य की पुष्टि मिली।

ग्यारहवाँ अध्याय

सिकन्दर का आक्रमण और कौटिल्य

महात्मा बुद्ध की मृत्यु के लगभग डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् सिकन्दर ने ईरान पर विजय प्राप्त करके भारत में प्रवेश किया और छोटे-छोटे अनेक राज्यों को जीतता हुआ वह व्यास नदी तक आ पहुँचा। उसकी आगे बढ़ने की इच्छा रहने पर भी वह न बढ़ सका क्योंकि उसकी सेना में बेचैनी फैल गई थी। उसके सैनिक लड़ते-लड़ते थक गये थे और आगे जाने की हिम्मत छोड़ चुके थे। वह व्यास नदी से वापस लौट गया।

सिकन्दर के भारत पर आक्रमण से जो घटनाचक्र आरम्भ हुआ उसकी तीन घटनायें मुख्य हैं

१ भारत पर सिकन्दर का आक्रमण।

२ चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा साम्राज्य की स्थापना।

३ यूनानियों का दूसरे आक्रमण में परास्त होना और मौर्य साम्राज्य का अफगानिस्तान तक विस्तार।

ये तीनों राजनैतिक घटनाएँ हैं। इनके साथ सम्बन्ध रखने वाली तीन सांस्कृतिक घटनाएँ भी हैं। वह निम्नलिखित हैं—

१ यूनान और भारत का सम्पर्क।

२ कौटिल्य का अर्थशास्त्र।

३ मेगास्थनीज का लिखा हुआ भारत वृत्तान्त।

यह तो सर्वसम्मत बात है कि सिकन्दर और उसके पश्चात् सिल्यूकस के आक्रमणों का भारत की राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक परिस्थितियों पर कोई गहरा असर नहीं पड़ा तो भी भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिये यूनानी आक्रमण का महत्त्व कुछ कम नहीं है। सिकन्दर के आक्रमण ने भारत के मुँह पर से मानों परदा उठा दिया जिससे सदियों पश्चात् तक

हम उसकी धार्मिक राजनतिक और आर्थिक अवस्था का चित्र देख सकते हैं। उस आक्रमण ने एक यह काम भी किया कि भारत के सामाजिक शरीर म आरम रक्षा के लिये जबर्दस्त प्रतिक्रिया पदा की। देश सुख की मोह-निद्रा म सोया रहता यदि सिकन्दर के घुड़सवार अपने बर्छों की नोक से उसे जागृत न कर देते। सिकन्दर के आक्रमण न देश के अगाध जल का जो मन्थन किया उसम दो अनमोल रत्न निकले। एक चन्द्रगुप्त मौय और दूसरा आचाय चाणक्य (कौटिल्य)। इन दोनों के सहयोग से देश में जो नई जागृति पैदा हुई वह दो रूपों म प्रकट हुई। एक मौर्य साम्राज्य और दूसरी कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र। जहाँ राजनीतिक इतिहास के लेखक के लिये मौय साम्राज्य का महत्त्व अधिक है वहाँ सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से कौटिल्य का अथशास्त्र बहुत अधिक महत्वपूण होने के साथ ही देश की अनमोल साहित्यिक निधि भी है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र—महात्मा बुद्ध की मृत्यु से लगभग डेढ़ सौ वष पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य सम्राट् की पदवी धारण करके पाटलिपुत्र की गद्दी पर बैठा। इतिहास मे सम्राट चन्द्रगुप्त के नाम के साथ उसके महामन्त्री चाणक्य के नाम का अटूट सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। साम्राज्य का बनाने वाला दिमाग चाणक्य का था और हाथ चन्द्रगुप्त का। यदि ब्रह्म तेज और क्षात्र-तेज परस्पर मिलकर काम करें तो जो चमत्कारी परिणाम हो सकता है उसका एक ज्वलन्त उदाहरण मौर्य साम्राज्य था। चन्द्रगुप्त के राज्य-काल म कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं। सिकन्दर उससे पूव ही व्यास नदी के तट पर अपनी मानसिक पराजय स्वीकार करके वापस लौट चुका था। परन्तु उससे भारत और यूनान में जो सम्बन्ध स्थापित हुआ वह नष्ट नहीं हुआ। भारत के उत्तर म यवनों का थोड़ा-बहुत प्रभुत्व बना रहा जिससे चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके महामन्त्री को निरन्तर सावधान रहकर देश का प्रबन्ध सुचारु रूप से करना पड़ता था। चन्द्रगुप्त का शासन प्रबन्ध बहुत जागरूक और उत्तम था। यह हम यवनों के विरुद्ध उसके युद्ध की सफलता से समझ सकते हैं और यूनानी यात्रियों ने उसके

सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उससे भी अनुमान लगा सकते हैं। मौर्यकाल की शासन-व्यवस्था कैसी थी और उसके मौलिक सिद्धान्त क्या थे यह जानने के लिये उपर्युक्त दोनों प्रमाणों का अधिक प्रबल और प्रत्यक्ष प्रमाण चन्द्रगुप्त के महामन्त्री चाणक्य का लिखा अर्थशास्त्र है। चाणक्य के कई उपनाम थे। उनमें से दो नाम मुख्य थे एक कौटिल्य और दूसरा विष्णुगुप्त। अर्थशास्त्र का पूरा नाम है कौटलीय अर्थशास्त्र अर्थात् कौटिल्य का अर्थशास्त्र। अर्थशास्त्र में इसका निम्नलिखित श्लोक में वर्णन है—

'येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥

जिस व्यक्ति ने रुष्ट होकर शास्त्र, शस्त्र और नन्द के हाथ में गई पृथ्वी का उद्धार किया है वह इस शास्त्र का कर्ता है। चाणक्य शास्त्रों का पारंगत पंडित था और व्यावहारिक राजनीति में असाधारण रूप से कुशल था। वह ज्ञान और कर्म दोनों के सुन्दर समुच्चय का अद्भुत दृष्टान्त था। उसे हम सब देशों और सब धर्मों के सामने आदर्श मन्त्री के रूप में पेश कर सकते हैं। चाणक्य के निवास-स्थान का वर्णन महाकवि विशाखदत्त ने निम्नलिखित श्लोक में किया है—

'उपलशकलमेतद्भेदकं गोमयानाम्।
बटुभिरुपहृतानाम् बर्हिषां स्तूपमेतत्॥
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि-
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्॥

प्रधान मन्त्री के छप्पर की एक दीवार पुरानी होकर कुछ झुक गई है। छप्पर की छत पर यज्ञ की समिधाएँ सूख रही हैं जिससे छत भी झुक गई है। छात्रों के लाये हुए दर्भों का ढेर एक ओर पड़ा है और सूखे हुए उपलों को तोड़ने के लिये पत्थरों का ढेर दूसरी ओर पड़ा है। यह है मौर्य साम्राज्य के बनाने और रक्षा करने वाले चाणक्य की विभूति। जरा आजकल के शासक इस विभूति की तुलना अपने गगनचुम्बी प्रासादों से करें और फिर देखें कि भारतीय संस्कृति का असल रूप क्या है।

भारतीय संस्कृति का असली रूप आचार्य चाणक्य और उनकी कृतियों में अन्तर्निहित है।

अर्थशास्त्र में हम मौर्य काल की भारतीय संस्कृति का न केवल स्पष्ट चित्र देखते हैं, वह चित्र जिस पृष्ठभूमि पर लिखा गया है उसे भी दृष्टिगोचर करते हैं। अर्थशास्त्र केवल राजनीतिक कला ही नहीं है तत्त्वज्ञान भी है।

ऐतिहासिक क्रम की दृष्टि से देखें तो महाभारत और मौर्य साम्राज्य में बहुत लम्बा अन्तर है। यदि हम समय के सम्बन्ध में अत्यन्त कंजूस होकर विन्सेण्ट स्मिथ जैसे अंग्रेज इतिहास लेखक की बात मान लें तो भी महाभारत और मौर्य साम्राज्य में पाँच सदियों का अन्तर अवश्य है। अब हम महाभारत की भाषा, लेख-शैली और विचार-परम्परा की तुलना करते हैं तो हम यह देखकर आश्चर्य होता है कि दोनों में बहुत ही कम भेद है। पहले-पहल लिखा गया है, यह सम्भव है कि मध्यकाल में महाभारत में मिलावट होती रही है परन्तु असली और मिलावट से मिल कर बना हुआ महाभारत प्रायः सभी दृष्टियों से अर्थशास्त्र के इतना समीप है कि यह मानना कठिन हो जाता है कि व्यास और चाणक्य के मध्य में इतनी सदियाँ व्यतीत हो गईं। अनेक राजनीतिक तूफान आये और चले गये साम्राज्य बने और बिगड़ गये परन्तु भारतीय संस्कृति की शृंखला नहीं टूटी। भारत का हृदय जैसा का तैसा रहा। उसकी परम्पराओं में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आया।

मेगास्थनीज का भारत-वर्णन—ईसा से ३०२ वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त से परास्त होकर यवन सेनापति सैल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार में अपना एक प्रतिनिधि भेजा जिसका नाम मेगास्थनीज था। वह पाटलिपुत्र में बहुत वर्षों तक रहा। उसने अपने देश में लौटकर संस्मरणों की जो पुस्तक लिखी वह पूरी नहीं मिलती। उसके कुछ भाग उपलब्ध हुए हैं। जो भाग उपलब्ध हुए हैं उनमें भारत के सम्बन्ध में विस्तृत और यथार्थ जानकारी दी गई है। मेगास्थनीज के वर्णन से प्रतीत होता है कि भारत साम्राज्य की राज

भूमि के बहुत बड़े भाग में फैल गये। वे लोग अपने साथ आर्यों की भाषा आर्यों के धार्मिक विचार अर्थात् आर्य संस्कृति को लेकर गये। वह पृथ्वी पर व्याप्त होने वाली आर्य संस्कृति की पहली धारा थी।

दूसरी धारा—भारतीय संस्कृति की दूसरी धारा उस समय प्रवाहित हुई जिस समय इस देश के साहसिक लोग व्यापार और विद्या प्रचार के निमित्त से देश-देशान्तरों में जाने लगे। यह बात रामायण काल के पीछे की है। अमरीका और चीन विभिन्न दिशाओं मे बसे हुए देशों में उस समय के भारतीय विचारों और पद्धतियों के जो निशान मिलते हैं, उनसे स्पष्ट हो गया है कि रामोत्तर काल में भारतीय संस्कृति की दूसरी धारा देश-देशान्तरों में पहुँची और दूर-दूर तक फैल गई।

बाली द्वीप जावा सुमात्रा कम्बोडिया चम्पा मलाया स्याम आदि देशों के धर्मों और रीति रिवाजों और पुराने धर्मस्थानों के अध्ययन से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो चुकी है कि वहाँ प्राचीन समय में पूर्वकालीन भारतीय संस्कृति और धर्म का पूरा प्रभाव रह चुका है। इनमें से किसी देश में प्रभाव कुछ हल्का भी हो गया है तो भी उसके अवशेष बहुत स्पष्ट रूप में विद्यमान है। अमरीका में प्राचीन खुदी हुई इमारतों और मुद्राओं आदि का जो अन्वेषणपूर्वक अध्ययन किया गया है उससे यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका है कि वहाँ किसी बहुत पूर्वकाल में भारतीय संस्कृति का पूर्ण अधिकार रहा होगा।

तीसरी धारा—सम्राट अशोक—भारतीय संस्कृति की तीसरी धारा जो भारत से चलकर, पृथ्वी के पूर्वी अर्ध भाग में गंगाजल की तरह फैल गई वह बौद्ध धर्म की थी और उस भागीरथी का भगीरथ महाराज अशोक था। सम्राट अशोक चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र थे। वह युवावस्था में बहुत ही उग्र और तेजस्वी योद्धा थे परन्तु कलिंग विजय में हुए नर संहार को देखकर और आचार्य उपगुप्त के उपदेश से बौद्ध-धर्म का सन्देश प्राप्त करके उनका मन अहिंसा की ओर झुका जिसने उन्हें अन्त में बौद्ध धर्म का सबसे कट्टर प्रचारक बना दिया। बौद्ध धर्म का सूत्र

पात तो बुद्ध भगवान के सदुपदेशों से हुआ परन्तु उसका व्यापी रूप सम्राट अशोक के प्रयत्न से हुआ। सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म को कुछ भिक्षुओं और भक्तों के धर्मासन से उठाकर भूमण्डलव्यापी धर्म के रूप में परिणत कर दिया। अशोक से पहले बौद्ध धर्म भारतीय संस्कृति की विशाल पुस्तक का एक पन्ना था तो अशोक के प्रचार से वह उस पुस्तक का एक महान् और चमकीला अध्याय बन गया। अनेक शताब्दी पूर्व भारतीय संस्कृति की जो धारा महाराज राम के चरित्र बल से अनुप्राणित होकर दिग्दिगन्तों में फैली थी वह ईसा से दो शताब्दी पूर्व बुद्ध भगवान के तपोबल से अनुप्राणित होकर फिर एक बार भारत से बाहर बाढ़ की तरह विस्तीर्ण हो गई।

बौद्ध-धर्म प्रारम्भ से ही प्रचारकों का धर्म रहा है। गौतम बुद्ध स्वयं बहुत बड़े प्रचारक थे। उनके शिष्य भिक्षुओं के रूप में विचरण करते और प्रचार करते थे। सम्राट अशोक ने जब बौद्ध-धर्म ग्रहण किया तब उनके मन में यह भावना उत्पन्न हुई कि सारी पृथ्वी पर बौद्ध धर्म का प्रचार किया जाय। सम्राट ने पहले भारत की सीमाओं से लगते हुए सीलोन (सिंहल) द्वीप आदि स्वतन्त्र देशों में बौद्ध धर्म के प्रचारक भेजे और फिर सीरिया अबीसीनिया मसिडोनिया एपरस आदि यूनानियों द्वारा शासित देशों में प्रचार-कार्य विस्तारित किया। भारत के सभी प्रदेशों में भिक्षु प्रचारक भेजे गये जिन्होंने अनेक स्थानों पर विहार तथा चैत्य स्थापित किये। जो प्रचारक अन्य देशों को भेजे गये उनमें राजकुमार महेन्द्र और राजकुमारी संघमित्रा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राजकुमार महेन्द्र ने भिक्षु का बाना पहनकर सिंहल द्वीप में प्रचार किया और वहीं उसका देहान्त हुआ। वहाँ उसकी अस्थियों पर जो स्तूप बना हुआ है वह बौद्धों का पूजनीय तीर्थ समझा जाता है। अशोक के इस अद्भुत धर्म प्रेम और प्रचार-कार्य का यह परिणाम हुआ कि जो बौद्ध धर्म उससे पूर्व भारत के केवल कुछ प्रदेशों तक परिमित था वह अशोक की मृत्यु के समय एक विश्वव्यापी धर्म का रूप धारण कर चुका था।

तेरहवाँ अध्याय

भारतीय संस्कृति का विक्रम-काल

प्रतिक्रिया का आरम्भ—हम अब तक भारतीय संस्कृति की सम्राट अशोक तक की प्रगति का दिग्दर्शन करा चुके हैं। अशोक के पश्चात् मौर्यवंश के ५ उत्तराधिकारी गद्दी पर बैठे परन्तु उन सब का सम्मिलित राज्यकाल कुछ वर्षों से अधिक नहीं था। वे अत्यन्त निर्बल और कम आयु वाले शासक थे। मौर्यवंश का अन्त ईसा से लगभग १८५ वर्ष पूर्व हो गया।

मौर्यवंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था। बृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने अपने स्वामी को मारकर राज्य पर स्वयं अधिकार कर लिया।

पुष्यमित्र के सिंहासनारूढ़ होने से केवल पाटलिपुत्र का राजवंश ही नहीं बदला भारतीय संस्कृति के प्रवाह के रुख में भी परिवर्तन हो गया। सम्राट अशोक ने भारतीय सभ्यता पर बौद्ध धर्म की छाप लगा कर उसे एक नया रूप देने की चेष्टा की थी, पुष्यमित्र ने दिशा को बदलकर फिर उसे उसी पुराने प्रवाह में डाल दिया जिससे उसका सम्बन्ध कौटिल्य काल से जा जुड़ा। पुष्यमित्र पुराने स्मार्त धर्म में विश्वास रखता था। वह पराक्रमी राजा था उसने मीनान्दर के भारतीय आक्रमण को रोककर यश प्राप्त किया जिसके उपलक्ष्य में उसने अश्वमेध यज्ञ का समारोह सम्पन्न किया। अश्वमेध यज्ञ से पुष्यमित्र की प्राचीन स्मार्त धर्म में आस्था प्रकट होती है। स्मार्त-धर्म के पुनर्जीवन के साथ-साथ भारत भूमि पर बौद्ध धर्म का प्रभाव कम होने लगा। महात्मा बुद्ध को भारतीय धर्म का अंग बना लिया गया। उनकी गणना भगवान् के अवतारों में कर ली गई, और उनके तत्त्वज्ञान को विशाल

भारतीय तत्वज्ञान की एक शाखा मान लिया गया इस प्रकार जिस बौद्ध धर्म को सम्राट अशोक विश्वव्यापी बनाना चाहता था, उसे एक शाखा की हैसियत म रखकर भारतीय सभ्यता का प्रवाह बड़े वेग से आगे बढ़ा।

पुष्यमित्र ईसा से लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्व पाटलिपुत्र की राज गद्दीपर बैठा। उस समय से प्रारम्भ करके गुप्तकाल के अन्त (६ठी शताब्दी की समाप्ति) तक का समय भारत के इतिहास का सुनहरा समय कहलाता है। कुछ इतिहास लेखकों ने केवल गुप्तकाल को ही यह ऊँचा पद प्रदान किया है परन्तु यदि विवेचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो संस्कृति के पुनरुत्थान का क्रम पुष्यमित्र के राज्यारोहण के समय से ही प्रारम्भ हो गया था। इसलिये भारतीय संस्कृति के नये युग का प्रारम्भ उसी समय से है।

इस नये युग की दो विशेषताएँ हैं। एक विशेषता यह है कि इस युग में भारत पर विदेशियों से अनेक आक्रमण हुए, थोड़े-थोड़े समय के पश्चात् भिन्न-भिन्न रास्तों से शत्रुओं का प्रवेश होता रहा और भारतीय वीर उन्हें परास्त करते रहे।

यवन युची शक और हूण जाति के आक्रमणकारी भारत की उत्तरीय सीमाओं को पार करके देश में प्रवेश करते और कुछ हिस्सों पर अधिकार भी जमाते रहे परन्तु भारत के राजाओं में से कोई-न-कोई शूर ऐसा उठता रहा जो उन्हें धकेलकर अपनी मातृभूमि की स्वाधीनता और संस्कृति की रक्षा करता रहा। विदेशियों के आक्रमणों का यह दौर ईसा की छठी शताब्दी के अन्त तक जारी रहा। भारतीय क्षत्रिय भी तब तक विदेशी शत्रुओं को परास्त करके यशस्वी होते रहे। भारत की तलवार विदेशी शत्रुओं की शान से सधकर अधिकाधिक उज्ज्वल होती रही।

इस युग की दूसरी विशेषता यह थी कि इसमें साहित्य कला शिल्प और वैभव की अपूर्व वृद्धि हुई। बौद्धकाल में भारतीय संस्कृति को जो नया उपहार मिला था उसे नष्ट नहीं किया गया। महात्मा बुद्ध को अव

सार मान लिया गया, बौद्ध-दर्शन को भारतीय दर्शन की एक शाखा के रूप में ले लिया गया और प्राकृत भाषा को लोकभाषा का पद प्रदान करके ऊँचे साहित्य का मंच बना लिया गया। इस प्रकार भारतीय संस्कृति अधिक समृद्ध बनकर तीव्र गति से आगे बढ़ने योग्य बन गई।

इन कारणों से हम भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग का प्रारम्भ ईसा से ३०० वर्ष पीछे न करके लगभग २०० वर्ष पहले करें और उसका नाम विक्रम काल रखें तो ठीक है। गुप्तकाल भी विक्रम काल का एक भाग था।

विक्रमादित्यों की लड़ी—उस काल को विक्रम के नाम से विशेषित करने का कारण निम्नलिखित है

उस काल में कितने विक्रमादित्य हुए, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों का मत है कि १२ विक्रमादित्य हुए। पाँच विक्रमादित्यों के तो ऐतिहासिक प्रमाण विद्यमान हैं। सबसे प्रथम विक्रमादित्य ईसा से ५७ वर्ष पूर्व हुआ। वह मूल विक्रमादित्य था, जिसने शक आक्रमणकारियों को परास्त करके विक्रमादित्य पद को सार्थक किया। विक्रम के नवरत्नों की ख्याति इसी विक्रमादित्य के सम्बन्ध में है। उन रत्नों के नाम और परिचय से ही विदित हो जाता है कि उस समय प्रत्येक दिशा में देश बहुत उन्नत था। विक्रम के नवरत्न निम्नलिखित थे (१) धन्वन्तरि (२) कालिदास (३) अमरसिंह (४) क्षपणक (५) शंकु (६) वेताल भट्ट (७) घटकर्पर (८) वराह मिहिर और (९) वररुचि।

दूसरा विजेता जो विक्रमादित्य नाम से विशेषित किया गया, दक्षिण का राजा प्रथम शातकर्णी था। उसने शक, यवन और पल्हवों का संहार करके इस यशस्वी उपाधि को प्राप्त किया। यह राजा ईसा से लगभग १०० वर्ष पश्चात् हुआ।

गुप्तवंश के राजा समुद्रगुप्त ने न केवल विदेशियों को परास्त किया साथ ही दिग्विजय करके चक्रवर्ती पद को भी प्राप्त किया। समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त भी पिता की तरह ही प्रतापी राजा था। वह साहित्य

और कला का बहुत बड़ा रक्षक और सम्वर्धक था। वह भी विक्रमादित्य पद से विभूषित हुआ। वह ईसा की चौथी शताब्दी के अन्त में हुआ।

कुछ काल पीछे हूण लोग भारत पर आक्रमण करने लगे। मालवा के वीर राजा यशोधर्मन् ने हूणों को परास्त कर विक्रमादित्य की उपाधि उपलब्ध की। यह ईसा की छठी शताब्दी के मध्य की बात है।

छठी शताब्दी के अन्त और ७वीं शताब्दी के आरम्भ में राजा हर्षवर्धन ने अपनी वीरता और संस्कृति प्रियता के कारण वही यश प्राप्त किया जो विक्रमादित्य उपाधिधारियों को प्राप्त होता रहा है। यद्यपि साहित्य में अथवा शिलालेखों में उसके साथ विक्रमादित्य पद उपलब्ध नहीं होता तो भी मैं समझता हूँ कि वह अपने कार्यों के कारण विक्रमादित्य पद के योग्य राजा था। उसके साथ भारतीय इतिहास का विक्रम काल समाप्त होता है।

बौद्धमत का ह्रास क्यों हुआ था?—यह एक मनोरञ्जक और आवश्यक प्रश्न है कि बौद्ध-धर्म का ह्रास अपने जन्म-स्थान भारतवर्ष में इतना शीघ्र क्या आरम्भ हो गया। इस प्रश्न का भारतीय संस्कृति के विकास से बहुत गहरा सम्बन्ध है। यदि भारत में बौद्ध-धर्म का ह्रास और पुराण स्मार्त धर्म का पुनरुत्थान इतना शीघ्र आरम्भ न होता तो यहाँ की सांस्कृतिक प्रगति की दिशा दूसरी ही होती। बौद्ध-धर्म से देश को जो प्रेरणा मिली थी वह उसकी विचारधारा और साहित्य के रूप को बदल देती। संस्कृत का साहित्य भूतकाल की वस्तु हो जाती। भाषा प्राकृत के हाथ में रहता। साहित्य और कला की वह सर्वाङ्गीण उन्नति जिसके कारण हमारे देश का तत्कालीन इतिहास प्रकाशित है न जाने किस रूप में प्रकट होती है। आश्चर्य की बात यह है कि जो बौद्ध धर्म भारत से अन्य देशों में पहुँचकर इतना विस्तीर्ण हुआ और बद्धमूल हो गया वह अपने जन्म स्थान में बहुत कम समय तक अच्छी दशा में रहा। रहा तो निरन्तर परन्तु बहुत ही अनिश्चित और बिखरी हुई दशा में।

इस घटना का मुख्य कारण यह था कि महाराजा अशोक ने अपने

राज्य-काल में देश की सम्पूर्ण धन-शक्ति और राज-शक्ति को धर्म प्रचार में अर्पण करके देश-देशान्तर में बौद्ध-धर्म को तो फला दिया परन्तु राज्य की शासन तथा आत्मरक्षा की शक्ति को अत्यन्त निर्बल कर दिया उसी का यह फल हुआ कि सम्राट अशोक की मृत्यु के पश्चात् बहुत शीघ्र मौर्य साम्राज्य का बल क्षीण हो गया। उस क्षीणता से लाभ उठाकर सेनापति पुष्यमित्र ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया इस प्रकार शीघ्र ही बौद्ध-धर्म की प्रधानता के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई।

उसी समय विदेशियों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये। मीनान्दर का आक्रमण पुष्यमित्र के समय में हुआ। भारतवासी उस समय यह अनुभव कर चुके थे कि बौद्ध धर्म के सक्रिय प्रयोग में विरोधी आक्रमणों से देश की रक्षा करने की शक्ति नहीं। अशोक भिक्षु सा बन गया था। उसकी सन्तान या तो भिक्षु हो गई अन्यथा निर्बलता को प्राप्त हो गई। आक्रान्ताओं का मुकाबला करने के लिये जो बल और उग्रभाव चाहिये प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म उसका विरोधी था। इस कारण भारतवर्ष को बौद्ध धर्म का सहारा छोड़ देना पड़ा। आगामी ८०० वर्षों तक समय-समय पर विदेशी भारत पर आक्रमण करने का यत्न करते रहे, देश को युद्ध के लिये निरन्तर तैयार रहना पड़ता था इस कारण स्वभावतः देश में निर्वाण-धर्म की क्षीणता और शक्ति धर्म की उन्नति होती गई। भारत के इतिहास का विक्रमकाल देश पर विदेशी जातियों के आक्रमणों और उनकी प्रतिक्रियाओं का काल है।

विक्रमकालीन भारतीय संस्कृति को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—

प्रथम सम्राट विक्रमादित्य से लेकर गुप्त साम्राज्य तक उसकी निरन्तर वृद्धि और पूर्णता होती रही। उसके पश्चात् छठी शताब्दी तक उसकी स्थिरता रही और अन्त में लगभग दो सदी तक उसकी शिथिलता जारी रही। संस्कृति का अभ्युदय काल विक्रमादित्य से आरम्भ होता है। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में इस नई हलचल का मुख्य

कारण यह हुआ कि विदेशी आक्रमणों को रोकने के लिये जाति को शक्ति सम्पन्न संघर्षात्मक नीति का आश्रय लेना पड़ा। अत जब राष्ट्र पर संकट आया तब आवश्यकता हुई कि बौद्ध धर्म के अहिंसा के सिद्धान्त को छोड़कर उन सिद्धान्तों का आश्रय लिया जाए, जिनकी परम्परा ऋग्वेद से आरम्भ होकर रामायण और महाभारत म से होती हुई कौटिल्य पर समाप्त होती है। राजनतिक परिस्थितियों ने जो प्रतिक्रिया उत्पन्न की उसका प्रभाव धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र पर भी पड़ा। उससे भारतीय संस्कृति का जो नया कायाकल्प आरम्भ हुआ उसने उस विक्रमकालीन भारतीय संस्कृति को जन्म दिया जिसे इतिहास लेखक हिन्दू संस्कृति का स्वणकाल कहते हैं।

धार्मिक क्षेत्र म इस लहर ने यह प्रभाव उत्पन्न किया कि बौद्ध धम क्षीण होता गया और प्राचीन भारतीय धर्म अपने नये रूप म प्रकट हुआ जिसे हम पौराणिक धम के नाम से पुकार सकते हैं। रामायण और महाभारत के नये संस्करण इसी काल म हुए। २४ हजार श्लोकों का महाभारत विक्रमकाल मे एक लाख श्लोकों से भी आगे चला गया।

मुख्य पुराणो की रचना इसी काल म हुई। विद्वानो का विचार है कि विक्रमकाल के २०० वर्षों म पुराणो के भी कई संस्करण हो गये। निर्माता लोग रामायण महाभारत और पुराणो को अपनी रचनाओं से निरन्तर बढाते रहे। जिन्हें हम आज प्रक्षेपक कहते हैं वे उस समय सर्वथा न्यायोचित परिशिष्ट माने जाते थे।

साहित्य का विकास—इस काल में वह संस्कृत साहित्य उत्पन्न हुआ जिसके कारण भारत का शिर संसार म ऊँचा है। यह ठीक है कि उसका मूलाधार प्राचीन देववाणी साहित्य ही था उसका संस्कृत नाम तब पड़ा जब शिक्षा व्याकरण आदि द्वारा परिष्कृत करके भाषा को उसका नया रूप दे दिया गया। पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी की अद्भुत रचना करके भाषा का जो संस्कार और नियन्त्रण आरम्भ किया था उसे पतजलि मुनि ने महाभाष्य द्वारा पूर्णता तक पहुँचाया। उस संस्कार के कारण

आर्यवाणी का नाम संस्कृत पड़ा। उस संस्कृत भाषा का अभ्युदय संवर्धन और परिपोषण मुख्य रूप से विक्रमकाल में हुआ।

बौद्ध-काल में प्राकृत अर्थात् बोलचाल की भाषा को मुख्यता मिल गई थी। उसका कारण यह था कि महात्मा बुद्ध और उनके अनुयायियों का मुख्य लक्ष्य सर्वसाधारण जनता में धर्म का प्रचार करना था। उनके लिये लोकभाषा का प्रयोग स्वाभाविक ही था। बौद्ध काल में प्राकृत भाषा मुख्य हो गई थी और संस्कृत भाषा गौण। प्रतिक्रिया प्रारम्भ होते ही प्राकृत भाषा गौण हो गई। विक्रमकालीन संस्कृत-साहित्य में प्राकृत को गौण स्थान मिला वह अशिक्षिता स्त्रियों नौकरों और साधारण प्रजा जना की बातचीत की भाषा मानी जाने लगी।

वाङमय की जितनी शाखायें है, विक्रमकाल में उन सभी की असाधारण उन्नति हुई। सब पुराण इस काल की उपज हैं। कालिदास भारवि भवभूति आदि महाकवि उसी काल में हुए। शिक्षा कल्प व्याकरण आदि का निर्माण और भाषा का विकास भी उसी काल में हुआ। ज्योतिष आयुर्वेद तथा अन्य शिल्प और कला के वे ग्रन्थ जिनके कारण भारतीय साहित्य का सिर ऊंचा है, विक्रम काल की ही देन है।

इस प्रसंग में यह एक मनोरञ्जक प्रश्न उठता है कि विक्रमादित्यों की तरह कालिदास एक ही हुआ अथवा अनेक हुए। प्राचीन साहित्य परम्परा को मानें तो हमें कहना पड़ेगा कि कम-से-कम तीन कालिदास हुए हैं। यह श्लोक प्रसिद्ध है—

> 'एकोऽपि जीयते हन्त, कालिदासो न केनचित्।
> शृंगारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥'

शृंगार और मधुर उक्तियों में एक कालिदास को ही कोई नहीं जीत सकता तीन कालिदासों को तो परास्त करने की बात ही क्या है? प्रतीत होता है कि जब किसी राजा ने विदेशियों पर विजय प्राप्त करके विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की तभी उसके दरबार के मुख्य कवि का नाम कालिदास रख लिया गया। यों कालिदास के नाम से प्रसिद्ध रघुवंश मेघदूत

कुमारसम्भव अभिज्ञान शाकुन्तल आदि काव्य प्रथम विक्रमादित्य के राज कवि कालिदास के ही प्रतीत होते हैं।

विक्रम काल के तीन भाग चार महापुरुषों के नामों के साथ निर्दिष्ट किये जा सकते हैं। अभ्युदय काल में प्रथम विक्रमादित्य मध्य काल में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और समुद्रगुप्त तथा तृतीय भाग में राजा हर्षवर्धन के नाम विशेष रूप से निर्देश के योग्य हैं। विक्रमादित्य ने अपनी विजययात्रा और साहित्य प्रेम के प्रभाव से जिस संस्कृति को जागृत किया चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और समुद्रगुप्त ने उसे पुष्ट किया और राजा हर्षवर्धन ने उसमें फिर बौद्ध धर्म का मिश्रण करके उसकी प्रगति को शिथिल कर दिया। भारतीय इतिहास की वह आठ शताब्दियाँ राजनैतिक धार्मिक साहित्यिक और आर्थिक सभी दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण थीं। उस समय का शिल्प गुप्तकालीन शिल्प के नाम से प्रसिद्ध है। शिल्प के इतिहास में उसका अपना प्रमुख स्थान है। उस समय की आर्थिक विभूति का अनुमान लगाना हो तो महाकवि कालिदास के ग्रन्थों को पढ़िये। आप उस काल की सुख-समृद्धि और विभूति से चमत्कृत हो जायेंगे। आध्यात्मिक और धार्मिक दृष्टिकोण से तो वह समय आप समय से हीन था परन्तु अन्य दृष्टियों से वह अधिक समृद्ध और परिपूर्ण था। उस समय की एक विशेषता यह थी कि विचारकों ने प्राय सब विषयों में और अनेक दिशाओं में अपनी विचारधारा को फैलाकर अन्त में एक केन्द्र पर लाने का अद्भुत प्रयत्न किया। एक ओर धर्म अनेक धाराओं में विभक्त हो गया था तो दूसरी ओर उसे एक सूत्र में पिरोने का प्रयत्न किया गया। देवमालाओं का खूब विस्तार हुआ। ब्रह्मा विष्णु महेश गणेश दुर्गा आदि देवी-देवताओं और अवतारों की सुविस्तृत कल्पनाओं और पुराणों के निर्माण के साथ-साथ हम उस समय के लेखकों को निरन्तर यह प्रयत्न करते पाते हैं कि वे सब देवी-देवताओं को एक ही शक्ति के भिन्न भिन्न रूप प्रदर्शित करें। त्रिमूर्ति निर्गुण आदि विशेषणों का उद्गम इसी भावना से हुआ।

लोग मुझे धममार्ग पर चलने में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हुए प्रतीत हुए। यात्रियों के लिये स्थान-स्थान पर विश्रामालय बने हुए थे। रास्ते बहुत अच्छी हालत में थे। शहरों म धर्मार्थ चिकित्सालयों की उत्तम व्यवस्था थी। चिकित्सालयों के बारे में फाह्यान ने लिखा है— इनमें सब तरह के निर्धन और आश्रम-हीन रोगी आते हैं उन्हें तरह-तरह की बीमारियाँ होती हैं। उनकी भली प्रकार शुश्रूषा होती है। योग्य चिकित्सक उनका इलाज करते हैं। उन्हें आवश्यकतानुसार भोजन और औषधि दी जाती है। इस प्रकार उन्हें पूरा आराम दिया जाता है। रोग मुक्त होकर वे चिकित्सालय से चले जाते हैं। इतिहास लेखक विन्सेण्ट स्मिथ ने इस वर्णन का उल्लेख करके सम्मति दी है कि यह सन्दिग्ध बात है कि उस समय ससार म कहीं भी चिकित्सालय की इतनी सुन्दर संस्था कहीं अन्यत्र भी थी। यह संस्था ईसाइयों की अर्वाचीन सेवा सम्बन्धी संस्थाओं का पूर्व रूप थी जिससे दानशील नागरिकों के चरित्र की उच्चता तो प्रतीत होती ही है अशोक की अद्भुत प्रतिभा का भी परिचय मिलता है सदियों पश्चात् तक जिसका उत्तम प्रभाव देश पर बना रहा।

मालवा प्रदेश की समृद्धि देखकर फाह्यान बहुत प्रभावित हुआ। उसे यहाँ प्रकृति के वैभव लोगों के सौम्य स्वभाव और शासन की मधुरता ने अपनी ओर आकृष्ट किया। मौसम नम और रुचिकर था उसमें न बर्फ थी और न धुन्ध। ये कष्ट थे जिनसे यात्री को अन्य स्थानों म रास्ते म परेशान होना पड़ा था।

शासन प्रणाली की फाह्यान ने बहुत प्रशंसा की है। उसने लिखा है कि देश की सरकार बहुत ही समझदार थी और प्रजा को परेशान नहीं करती थी। उसने बड़े सन्तोष से लिखा है कि यहाँ के लोगों को न सरकार म घर के लोगों का ब्यौरा देना पड़ता है और न मजिस्ट्रेटों के सामने हाजिर होना पड़ता है। चीन की तरह यहाँ के लोगो को एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिये पासपोर्ट नहीं लेने पड़ते। वे जहाँ चाहें इच्छा

नुसार जा सकते हैं। दण्ड-विधान भी चीन की अपेक्षा बहुत नम था। अधिकतर अर्थदण्ड ही दिया जाता था और वह भी जैसा अपराध वैसा दण्ड। मृत्युदण्ड तो था ही नहीं। जो लोग डकैती हत्या या विद्रोह के अपराधी समझे जाते थे उन्हें बड़े-से-बड़ा दण्ड यह दिया जाता था कि उनका दायाँ हाथ काट दिया जाता था परन्तु फाह्यान का कहना है कि यह दण्ड बहुत ही कम दिया जाता था।

राज-कर मुख्य रूप से सरकारी भूमियों से ही प्राप्त किया जाता था। प्रजा पर जो कर लगाए जाते थे वह बहुत ही हल्के थे और क्योंकि सरकारी कर्मचारियों को निश्चित और पर्याप्त वेतन दिये जाते थे उनमें रिश्वत लेने या भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति नहीं थी।

फाह्यान को देश में सुरक्षा की व्यवस्था बहुत ही उत्तम प्रतीत हुई। उसने तीन वर्ष तक पाटलिपुत्र में और दो वर्ष तक ताम्रलिप्ती में रहकर संस्कृत का अध्ययन किया। इस समय में यात्री ने देश के विविध भागों में कई बार यात्रा की। फाह्यान ने बड़े आश्चर्य और सन्तोष से लिखा है कि इस सारे समय उसका डाकुओं से एक बार भी सामना नहीं हुआ जो उस युग में भारत से बाहर आश्चर्य की चीज समझी जाती थी। फाह्यान के इस वृत्तान्त को पढ़कर महाकवि कालिदास का एक श्लोक याद आ जाता है जिसमें उसने वर्णन किया है—

"यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनाम।
निद्रां विहारार्धपथे गतानाम॥
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि।
को लम्बयेदाहरणाय हस्तम॥

उसके शासन में वायु की भी यह हिम्मत नहीं थी कि थककर रास्ते में सोई हुई महिलाओं के अंशुक को शरीर पर से हटाये। चोर या डाकुओं की तो हिम्मत ही क्या हो सकती थी? सुशासन की यही समानता है, जिसके कारण अनेक विद्वान् मानते हैं कि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार का कवि ही था। सुरक्षा की ऐसी सुन्दर व्यवस्था

जहाँ शासन की क्षमता के कारण थी, वहाँ यह भी मानना पड़ेगा कि पौरजानपदों की नैसर्गिक सच्चरित्रता उसका मूल कारण थी।

गुप्तवंश के राजा पौराणिक हिन्दू धर्म के मानने वाले थे। सम्राट् अशोक की मृत्यु के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् ही भारत में बौद्ध-धर्म का जोर कुछ घटना आरम्भ हो गया था। ईसवी सन् के आरम्भ में हम महात्मा बुद्ध से पहले की धार्मिक पद्धतियों को पुनर्जीवित होता हुआ पाते हैं। पुराणों के वर्तमान रूप की रचना इसी समय में हुई। गुप्तकाल में यह प्रतिक्रिया अपने यौवन पर पहुँच गई थी। यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात है कि कई वर्षों तक बौद्ध भिक्षुओं और संस्कृत के पंडितों के सम्पर्क में रहकर भी फाह्यान ने बौद्ध और हिन्दू धर्म के संघर्ष अथवा कलह की कोई चर्चा नहीं की। बौद्ध और अन्य लोग परस्पर प्रेमपूर्वक सहिष्णुता से रहते थे। फाह्यान ने सिन्ध से लेकर यमुना तक लगभग पाँच सौ मील की यात्रा की। वह जहाँ भी गया वहाँ बौद्ध विहारों को फलती-फूलती दशा में पाया। कट्टर हिन्दू राजाओं के राज्य में भी महात्मा बुद्ध के आदेशों का पालन करने का यत्न किया जाता था। फाह्यान ने लिखा है—'सारे देश में कोई व्यक्ति जीवित प्राणियों को नहीं मारता, न शराब पीता है और न प्याज अथवा लहसुन खाता है। मैंने कहीं मांस की दुकानें या शराब निकालने के कारखाने नहीं देखे।' यह संभव है कि यात्री को अधिकतर बौद्ध विहारों के सम्पर्क में रहना पड़ा इस कारण उस समाज का दूसरा पहलू बिलकुल न दिखाई दिया हो और इस कारण वर्णन में कुछ अत्युक्ति भी आ गई हो तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सामान्य रूप से जीवन के वे ऊँचे आदर्श जिन्हें भारतवासी अत्यन्त प्राचीन काल से मानते आये थे और महात्मा बुद्ध ने जिनका उपदेश अपने जीवन और वाणी से दिया था वे व्यावहारिक रूप में भारत में ईसा की पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में भी विद्यमान थे। उस समय के शासन की उदारता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जो राजा स्वयं बौद्ध नहीं थे उनके कोश से बौद्ध विहारों को और भिक्षुओं को खुली आर्थिक सहायता दी जाती थी। भिक्षुओं के लिये घर,

चारपाई चटाई भोजन कपड़े आदि की व्यवस्था राज्य की ओर से होती थी।

इस सारे उज्ज्वल चित्र में एक काली रेखा भी मिलती है। फाह्यान ने लिखा है कि चाण्डाल वर्ग के लोग शहर के बाहर अलग बस्ती में रहते थे और जब वे शहर में या बाजार में घुसने लगते थे तब उन्हें लकड़ी के दो टुकड़ों को आपस में बजाकर सब लोगों को सूचना देना पड़ती थी ताकि वे चाण्डाल के स्पर्श से बच सकें। व्याध भठियारे और कसाई लोग इन श्रेणी में आते थे। यद्यपि यह रिवाज नागरिक समानता का विरोधी था परन्तु इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि अहिंसा के प्रति उस घृणा का भाव ही इस रिवाज का प्रेरक था।

पन्द्रहवां अध्याय

भारतीय संस्कृति का मध्यकाल

विक्रमकाल के पश्चात् भारतवर्ष जिस युग में से गुजरा इतिहास लेखकों ने उसका नाम मध्यकाल रखा है। यह नाम ऐतिहासिक दृष्टि से यद्यपि ठीक न होता हुआ भी उस काल को भिन्न रूप से निर्दिष्ट करने के लिये पर्याप्त है। इस दृष्टि से उसे मध्यकाल भी कह सकते हैं कि यह विक्रम काल और मुस्लिमकाल के मध्य में पड़ता है। सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु ६४७ ईस्वी में हुई और महमूद गजनवी ने भारत पर अपने लम्बे चौड़े आक्रमण दसवीं शताब्दी के आरम्भ में किये। इन दोनों घटनाओं के बीच में लगभग ३५० वर्षों का अन्तर है। इन ३५० वर्षों को हम मध्ययुग के नाम से पुकार सकते हैं।

इस काल की सबसे बड़ी घटनाएं तीन हैं। इन तीन घटनाओं का भारत के भावी इतिहास पर बहुत भारी असर हुआ। उनसे वस्तुतः भारत के इतिहास का घटनाचक्र ही बदल गया। पहली घटना यह थी कि भारत के अधिकतर क्षत्रिय वंश राजपूत नाम से पुकारे जाने लगे और अनेक ठोस वर्गों के रूप में परिणित हो गये। उससे पहला परिवर्तन तो यह हुआ कि वे लोग क्षत्रिय के स्थान पर राजपूत कहलाने लगे और दूसरा परिवर्तन यह हुआ कि वे चौहान राठौर, गुहू प्रतिहार परमार आदि अनेक शाखाओं में बँटकर एक-दूसरे से बहुत कुछ अलग होने लगे। जाति का नाम अलग हो जाने से उनकी राजभक्ति भी बहुत कुछ परिमित होने लगी।

उस युग में दूसरा बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि मुसलमान लोग सिन्ध में घुस आये। यद्यपि उन्हें आगे नहीं बढ़ने दिया गया तो भी इतनी विशेष बात रही कि उन्हें शीघ्र ही निकालकर बाहर भी नहीं किया जा सका।

तीसरी घटना अथवा घटना का अभाव इस रूप मे हुआ कि किसी विदेशी आक्रान्ता ने भारत के अन्तर्भाग पर बड़ा आक्रमण करने का यत्न नही किया।

यह तीनो घटनाये एक प्रकार से परस्पर सम्बद्ध हैं। सिन्ध पर मुसलमानो के आक्रमण ने देश के राजनैतिक वातावरण को बहुत कुछ बदल दिया। इससे पूर्व यवन हूण शक या सीथियन लोगो के जो काफले भारत पर आक्रमण करते थे उनका मुख्य उद्देश्य लूट-मार करना या बहुत अधिक हुआ तो राज्य स्थापित करना होता था। परन्तु मुसलमान विजेता प्रारम्भ से ही इस्लाम के प्रचारक बनकर आये। वह लूट-मार तो करते ही थे और राज्य-स्थापना का भी यत्न करते थे परन्तु यह सब कुछ वह इस्लाम के नाम पर करते थे। उनके आक्रमण का स्पष्ट रूप मजहबी था। स्वभावत हमारे देश मे उनके धार्मिक आक्रमण की प्रतिक्रिया यह हुई कि वह क्षत्रिय लोग जो मध्ययुग मे राजपूत कहलाने लगे थे विशेष रूप से धार्मिक आवेश मे पूर्ण हो गये। विक्रमकाल के क्षत्रिय केवल म्लेच्छो को परास्त करने के लिये विजय यात्रा पर निकलते थे परन्तु राजपूत लोग अपने धर्म की रक्षा के लिये तलवार पकड़ते थे। मध्यकाल मे क्षत्रियों की मनोवृत्ति का जो रूपान्तर हुआ उसका कारण यह भी था।

मध्यकाल मे भारत मे मुसलमान आये तो सही परन्तु बहुत आगे तक नही बढ सके। उसका परिणाम यह हुआ कि देश के अन्य सब भाग अपने अपने राजाओ द्वारा शासित होते रहे। जैसे देश के बाहर से सिकन्दर या महमूद गजनवी जैसे आक्रान्ता ने आक्रमण नही किया वैसे ही देश के अन्दर भी कोई रघु, समुद्रगुप्त या हर्षवर्धन उत्पन्न नहीं हुआ। प्राय छोटे-छोटे राज्यो के शासक अपनी-अपनी सीमाओं में निर्भय शासन करते रहे। इसका फल हुआ कि जहाँ प्रजा प्राय सन्तुष्ट रही वहाँ राजवशो को अपने अलग अलग दायरे बनाने का लम्बा अवसर मिल गया। यह प्रकृति का नियम है कि जब तक बाहर से कोई दबाव न आये

तब तक छोटे-छोटे भणु परस्पर मिलने का प्रयत्न नहीं करते। न बाहर से कोई दबाव पड़ा न देश में ही कोई बड़ा विजेता उत्पन्न हुआ। फलतः सारा भारतवर्ष छोटे-छोटे राज्यों में लगभग ३०० साल तक विभक्त रहा। हरेक राज्य में शासन करने वाला प्रत्येक राजवंश अपनी अलग सत्ता को दृढ़ करता रहा। देश के इतिहास से पृथक उसका अपना इतिहास बनता रहा। राजपूत वंशों में जो विशेष अलगपन और वंशभक्ति उत्पन्न हो गई उसका यही मुख्य कारण था। शासकों का एक दूसरे से मिलन का कोई निमित्त ही नहीं था। उस युग को जहाँ हम एक और विशेष विभाभहीन शान्त समय कह सकते हैं वहाँ साथ ही उस देश की प्रजा के लिये सुख-शान्ति से पूर्ण भी कह सकते है।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रश्न बहुत मनोरंजक है कि राजपूत जातियों की उत्पत्ति कैसे हुई ? इस प्रश्न का उत्तर कई प्रकार से दिया गया है। कर्नल टाड ने यह कल्पना उद्भासित की थी कि राजपूत लोग शक सीथियन आदि जातियों के वंशज थे। इस कल्पना की पुष्टि में उन्होंने राजपूताने की कई पुरानी दन्तकथाओं का हवाला दिया था। बहुत समय तक वह कल्पना चलती रही। भारत के अनेक विद्वानों ने भी उसे मान लिया। परन्तु अधिक अन्वेषण से वह कल्पना सर्वथा खंडित हो गई। विशेष रूप से प० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसंधान ने टाड की कल्पना को सर्वथा छिन्न-भिन्न कर दिया है।

अब यह बात सर्वसम्मत रूप से मानी जाती है कि पुराने क्षत्रियवंश ही राजपूत नाम से प्रसिद्ध हुए। इस नाम परिवर्तन का मुख्य कारण यह हुआ कि भाषा बदल गई। संस्कृत भाषा अनेक प्रांतिक और स्थानीय भागों में विभक्त हो गई। भाषा के बदल जाने से राजपुत्र राजपूत नाम से पुकारे जाने लगे। इसका एक कारण सम्भवतः यह भी हुआ कि एक राजा के अनेक लड़कों ने भिन्न भिन्न स्थानों पर अपने बाहुबल से राज्य स्थापित किये। जिससे उनका राजपूत अर्थात् राजपुत्र नाम प्रसिद्ध हुआ। तीन सौ

साल के अविच्छिन्न स्वाधीन शासन में उस नाम ने अपनी परम्पराओं को दृढ कर लिया।

जब हम यह कहते हैं कि यह काल बहुत कुछ घटना रहित था तो इसका यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि उस समय भारत भूमि वध्या रही और उसमे कोई महान् या वीर पुरुष उत्पन्न नहीं हुए। उस युग को प्रकाशित करने वाले कई उज्ज्वल नाम हैं। भारत के प्रसिद्ध सस्कृत प्रेमी राजा भोज का जन्म इसी युग म हुआ। राजा भोज अपने समय का अत्यन्त प्रबल शासक होने के साथ-साथ उद्भट विद्वानों को सहारा देने वाला था। उसका नाम भारतीय साहित्य म स्वर्णाक्षरों मे लिखा हुआ है। दूसरा महान् व्यक्ति जिसके नाम से यह काल उज्ज्वल है मेवाड़ का बापा रावल था। यहाँ अवसर नहीं है कि बापा रावल व उनके वशजो के उज्ज्वल पराक्रम और अटल धर्म भक्ति का सक्षेप से भी वर्णन किया जाय। बापा रावल से जो वश आरम्भ हुआ उसमे हम्मीर और प्रताप जैसे अनुपम वीर उत्पन्न हुए। इसी प्रकार अन्य राजपूत वशो म भी ऐसे-ऐसे पराक्रमी और बाँके योद्धा होते रहे जिन पर कोई भी देश और कोई भी युग अभिमान कर सकता है।

विक्रम काल की समाप्ति और मध्यकाल के आरम्भ म भारत में दो ऐसे आचार्य उत्पन्न हुए जिन्होंने देश के सास्कृतिक प्रवाह पर बहुत गहरा प्रभाव डाला। वे दोनों आचार्य कुमारिल भट्ट और शकराचार्य थे। भारत के मध्यकालीन विचार प्रवाह को समझने के लिए इन दोनों आचार्यों के ग्रन्थो सिद्धान्तों और कार्यों का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना हम आगामी युग के विचारो और उनसे उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियो को नहीं समझ सकते।

कुमारिल भट्ट और शकराचार्य—कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रन्थ ईसा की सातवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में लिखे। कुमारिल भट्ट वेद और शास्त्रो के उद्भट विद्वान् तथा प्रसिद्ध वावदूक थे। वह कर्मकाण्ड मे विश्वास रखते थे और मीमासा दर्शन के प्रमुख व्याख्याकार और

आचार्य थे। वेदों में और ईश्वर में उनकी परम आस्था थी। भारतीय साहित्य की परम्परा में उन्हें बौद्धगजकेसरी कहते हैं। उस समय के बौद्ध ईश्वर और वेद का खण्डन करते थे। कुमारिल भट्ट ने लेख और वाणी द्वारा बौद्धों का इतना जोरदार खण्डन और कर्मकाण्ड का इतना प्रबल समर्थन किया कि उस समय के पश्चात् भारत में बुद्ध मत नाम-मात्र का ही शेष रह गया। बौद्ध लोग नास्तिकों की गिनती में आकर देश से निर्वासित हो गये। जनश्रुति प्रसिद्ध है कि एक बार बौद्धों के प्रहारों से आहत होकर सरस्वती निम्नलिखित पदों द्वारा अपने दुःख प्रगट करने लगी—

'किं करोमि क्व गच्छामि
को वेदानुद्धरिष्यति।

कुमारिल भट्ट ने यह पद सुनकर उत्तर दिया—

मा बिभेहि वरारोहे
भट्टाचार्योऽस्ति भूतले।

आचार्य ने आश्वासन दिया कि घबराओ मत भट्टाचार्य पृथ्वी पर जीवित है। कुमारिल भट्ट ने अपने उस आश्वासन को जन्म भर निभाया और अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के बल से नास्तिक दर्शनों का प्रबल खण्डन किया।

वैदिक धर्म में तीन काण्ड हैं—ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासना काण्ड। वैदिक ज्ञान की पूर्णता इन तीनों अंगों पर यथायोग्य समान बल देने से होती है। भगवद्गीता में धर्म के इन तीनों अंगों में पूर्ण साम्य-भाव स्थापित किया गया है। यह दुर्भाग्य की बात थी कि कुमारिल भट्ट ने वेदों का विद्वान् होते हुए भी बौद्धों के बुद्धिवाद के विरोध में केवल कर्मकाण्ड की स्थापना की। उन्होंने ज्ञानकाण्ड और उपासना-काण्ड की प्रायः उपेक्षा की। परिणाम यह हुआ कि जहाँ वह नास्तिक वाद का खण्डन करने में समर्थ हुए, वहाँ उन्होंने यज्ञों तक धर्म को सीमित करके मनुष्य जीवन में अधूरापन पैदा कर दिया। बौद्धमत शब्द

प्रमाण तथा यज्ञादि क्रियाकलाप की व्यर्थता दिखलाकर मनुष्यों को व्यावहारिक धर्म और वैराग्य की ओर खींचता था। कुमारिल भट्ट ने उस दिशा से तो मनुष्यों को हटाया परन्तु उसके स्थान में जिस कर्म काण्ड प्रधान धर्म का उपदेश दिया उसमें से भारतीय हृदय की नैसर्गिक भक्ति और त्याग की भावना बहुत कुछ निर्वासित कर दी गई थी। जनश्रुति है कि अपनी यज्ञप्रियता से कुमारिल भट्ट इतने प्रभावित हुए कि अन्त में यज्ञाग्नि प्रज्वलित करके स्वयं उसमें अपने शरीर की आहुति दे दी।

कुमारिलाचार्य ने दो काम किये। एक तो भारतवर्ष में बौद्ध सिद्धान्त को अत्यन्त निर्बल कर दिया और दूसरे कर्मकाण्ड प्रधान धर्म को लोक प्रिय बना दिया। कुमारिल भट्ट के लेखों से यज्ञों में पशुहिंसा की प्रणाली को भी समर्थन मिला।

शंकराचार्य—कुमारिल भट्ट से कुछ समय पीछे शंकराचार्य भारत की रंगस्थली पर अवतीर्ण हुए। जैसे पानी में समतल हो जाने की शक्ति है इसी प्रकार मानव-समाज की भावनायें भी समय पाकर समतल हो जाती हैं। यदि चिरकाल तक गर्मी अधिक हो तो वर्षा आ जाती है। इसी प्रकार यदि किसी जाति की मानसी भावनाओं का केवल एक अंग बढ़ि पाता जाय तो प्रकृति के नियम के अनुसार जोरदार प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है जो साम्य की दशा लाने में सहायक होती है। कुमारिल भट्ट ने नास्तिकों के कोरे बुद्धिवाद का तो खण्डन कर दिया परन्तु उनके स्थान पर वे केवल कर्मकाण्ड की स्थापना कर सके जिसका हृदय के साथ कम और स्थूल शरीर के साथ अधिक सम्बन्ध है। हाथ-पाँव को तो काम मिल गया परन्तु हृदय सूना रह गया। अन्तरात्मा की प्यास अनबुझी ही रह गई।

इस कमी को पूरा करने के लिये शंकराचार्य कार्य क्षेत्र में आये। शंकराचार्य की अद्भुत चमत्कारिणी प्रतिभा उनके अगाध पाण्डित्य और उनकी लोकोत्तर वाग्मिता की प्रशंसा में अधिक लिखना व्यर्थ है। उनके

इन गुणों का सिक्का भारत के ही नहीं संसार भर के विद्वानों ने माना है। शंकराचार्य कुमारिल भट्ट द्वारा समर्थित कर्मकाण्ड का खण्डन करके उसके स्थान पर अद्वैतवाद की स्थापना की। शंकराचार्य का अद्वैतवाद वस्तुतः प्राचीन भारतीय धर्म के आस्तिकवाद और बौद्धों के निर्वाणवाद का समुच्चय था। उसकी आधारभूमि उपनिषदों का ब्रह्म थी तो उसका परिणाम बौद्धों का निर्वाण था। जिस वाहन से शंकराचार्य वैदिक ब्रह्म से चलकर बौद्धों के 'निर्वाण' तक पहुँचे वह 'मायावाद' था। 'मायावाद' को हम शंकराचार्य की उद्भट प्रतिभा का आविष्कार कह सकते हैं। उसकी सहायता से उन्होंने वैदिक कर्मयोग को बौद्धशास्त्रियों के नैष्कर्म्यवाद से नत्थी कर दिया। बौद्ध पंडितों के आस्तिकविरोधी प्रचार का अन्त कुमारिल भट्ट ने कर दिया था। अब कुमारिल भट्ट के कर्मकाण्ड को शिथिल करके शंकराचार्य ने भारत के अनेक केन्द्रों में अद्वैतवाद का आसन स्थापित कर दिया। अद्वैतवाद उनके केन्द्रों से प्रवाहित होकर धीरे धीरे सारे देश के शिक्षित समुदाय में फैल गया और समयान्तर में भारतवासियों के जीवनों पर भी छा गया।

उस समय देश में सर्वत्र सुख शान्ति का राज्य था। न कोई परस्पर संघर्ष था और न बाहर से आक्रमण का भय था। राजा लोग शासन करते थे, ब्राह्मण और विद्वान लोग अध्ययन, अध्यापन और शास्त्र चर्चा करते थे, वैश्य लोग कृषि, वाणिज्य और व्यापार में संलग्न रहते थे और शेष प्रजाजन अपने अपने धन्धों द्वारा जाति का पोषण करते थे। उस समय की प्रशान्त राजनीतिक दशा का ही यह परिणाम था कि हम उन दोनों आचार्यों और उस युग के अन्य साहित्यकर्त्ताओं के ग्रन्थों में सामयिक आर्थिक या राजनीतिक समस्या का कोई निर्देश नहीं पाते। उन्हें यह ध्यान भी न था कि उनके बताये एकांगी सिद्धान्तों का राष्ट्र के चरित्र पर क्या प्रभाव पड़ेगा। युक्ति का झोंका उन्हें जिधर ले गया वे उधर गये और शास्त्रों की अपने अनुकूल व्याख्या द्वारा जनता के मस्तिष्क को उधर ही मोड़ दिया। कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य की शिक्षा के

दो मुख्य परिणाम हुए।

१ शास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित नास्तिकवाद भारत से लगभग निर्वासित हो गया।

२ धर्म का धर्म दो भागों में बंट गया। जिनकी प्रवृत्ति त्याग की ओर थी वे मायावाद के अनुयायी होकर निष्कर्मता की ओर जाने लगे और शेष लोगों का धार्मिक जीवन कर्मकाण्ड की सीमाओं में परिमित हो गया। यह साधारण प्रजा की बात थी बाकी रहे राजा लोग वे शासन करते रहे और विद्वान् लोग ग्रन्थ निर्माण करते रहे परन्तु उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद सा हो गया। पूर्व युगों के वाल्मीकि और व्यास कौटिल्य और कालिदास अपने समय के मार्गदर्शक थे। वह सरस्वती का प्रयोग राष्ट्र को जागृत करने के लिए करते थे। परन्तु इस युग के विद्वान संसार की वास्तविक दशाओं से सर्वथा अलग अलग रहकर केवल बुद्धि और वाणी के प्रयोग तक सरस्वती-सभा को परिमित रखते थे। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि इसके पश्चात का सार्वजनिक जीवन ऊँचे दर्जे के विचारकों के नेतृत्व से प्रायः शून्य मिलता है। आगामी युग में व्याकरण और दर्शन पर बड़े-बड़े ओजस्वी ग्रन्थ लिखे गये पुराणों की पुनरावृत्तियाँ हुईं रामायण और महाभारत में प्रक्षेपकों की भरमार की गई मध्यम दर्जे के काव्य भी बने परन्तु शंकराचार्य के पीछे देश में मौलिक चिन्तन का लगभग अभाव-सा हो गया है। जो कुछ चिन्तन हुआ भी वह राष्ट्र के जीवन से पृथक और अस्वाभाविक था कि उससे देश की आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक दशा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

दक्षिण—इस मध्यकाल में दक्षिण में एक के बाद दूसरे कई प्रबल राजवंश अधिकार सम्पन्न होते रहे। पाण्ड्य पल्लव और चोल उनमें से विशेष शक्तिशाली हुए।

इन सब राजवंशों के समय में भारतीय संस्कृति को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। संस्कृत साहित्य का तो पोषण हुआ ही तामिल साहित्य का

विकास भी प्रारम्भ हो गया था। धीरे धीरे दक्षिण में तेलगु, कन्नड़ और मलयालम भाषायें शाखा रूप में प्रस्फुटित होकर बढ़ने लगीं। इन भाषाओं में संस्कृत के शब्द बड़ी मात्रा में सम्मिलित रहे जो अब तक भी उनके अंग हैं।

दक्षिण के मन्दिर अपनी विशालता और कला के लिये प्रसिद्ध हैं। उनमें से अधिकतर इसी समय की कृतियाँ हैं। उनकी रचना में अलंकार-युक्त मुख्य द्वार ऊँचे कलश और विशाल आँगन का विशेष ध्यान रखा गया है। तंजोर के राज रामेश्वर मन्दिर की ऊँचाई १९ फुट है। उसमें जो मूर्तियाँ तथा सजावट की सामग्री है वह न केवल बहुमूल्य है उनकी शिल्प-कला भी बहुत उत्कृष्ट है।

दक्षिण में जो ऊँचे दर्जे के धार्मिक और दार्शनिक साहित्य की उन्नति हुई उसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि शंकराचार्य रामानुज माध्वाचार्य तथा अन्य अनेक देश के मूर्धन्य आचार्य और सिद्धान्त प्रवर्तक दक्षिण में हुए। दक्षिण बहुत काल तक बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रहा इस कारण उसमें संस्कृति का प्रवाह उत्तर की अपेक्षा अधिक स्वच्छन्दता से और अधिक देर तक चलता रहा। उसी युग में सायण और माधव ने वेदों का भाष्य किया वे दक्षिण के राज्य विजयनगरम् के राजा के आश्रित विद्वान् थे। दक्षिण में बहुत प्राचीन काल से उत्सवों के अवसरों पर संस्कृत के नाटकों का प्रदर्शन करने की प्रथा चली आती है। वह अब तक भी जारी है। महाकवि कालिदास ने अपने 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में जिस महाकवि भास की प्रशंसा की है वह भी सम्भवतः दाक्षिणात्य ही थी। भास के जितने भी नाटक मिले हैं वे केरल में मिले हैं उनका अभिनय अब तक भी समय-समय पर वहीं किया जाता है।

राजपूतों की विशेषताएं—मध्यकाल की सबसे मुख्य महत्त्वपूर्ण घटना यह थी कि उस काल में राजपूतों का उद्भव हुआ। राजपूत शब्द वस्तुतः राजपुत्र का ही रूपान्तर है। जब राजवंशीय क्षत्रिय अनेक भागों में बँटकर भिन्न भिन्न राज्यों के शासक बन गये तब वे वर्गों में विभक्त

हो गए। राजपूतों का न केवल भारत के इतिहास में अपितु संसार के इतिहास में भी विशेष स्थान है। उनमें दोष भी थे और गुण भी।

राजपूत अपने रक्त और वंश-परम्परा का बहुत मान करते थे। अपनी वंशगत उच्चता के साथ ही उनमें शौर्य की अनुपम भावना का विकास हुआ। राजपूतों में युद्ध की प्रबल लालसा रहती थी किन्तु इसके साथ ही वे अपने विजित शत्रुओं के साथ दया का बर्ताव भी करते थे और उनकी रक्षा और सम्मान में अपने प्राणों का बलि देने को सहर्ष तैयार रहते थे। राजपूत स्त्रियाँ भी पुरुषों की भाँति नारीत्व के उच्च आदर्शों से प्रभावित रहती थीं और पातिव्रत्य पवित्रता सत्यता और देश भक्ति की भावनाओं का प्रतिमूर्ति थीं। हमारे इतिहास में राजपूत वीरांगनाओं के जौहर और सती के असंख्य उदाहरण भरे पड़े हैं।

राजपूत अपने वंश तथा सामंत के बड़े भक्त होते थे। अपने वंश के सम्मान तथा अपने सामंत की प्राण रक्षा में प्राप्त होनेवाली मृत्यु अथवा घावों को वे अपनी व्यक्तिगत विजय का प्रतीक मानते थे। राजपूत स्वभाव से ही अभिमानी थे और आक्रमण करने तथा बदला लेने के लिये सदैव तैयार रहते थे। राजपूतों का इतिहास उनके पारस्परिक संघर्षों की घटनाओं से पूर्ण है। कभी-कभी तो वे छोटी-छोटी बातों के कारण मनमाना रक्त बहा देते थे। उनकी संकुचित जाति भक्ति ने उनमें समूचे राष्ट्र की भावना को न पनपने दिया और इसी कारण उनका राष्ट्र प्रेम देश भक्ति का पर्याय न हो सका। परिणाम यह हुआ कि वे विदेशी आक्रमणकारियों का सामना अपनी सामूहिक शक्ति से न कर सके और धीरे धीरे एक-एक करके नष्ट होते गए।

राजपूत अपनी स्त्रियों का बड़ा सम्मान करते थे। राजपूत कन्या को प्राचीन क्षत्रिय वर्गोचित पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी और उसे स्वयंवर प्रथा के द्वारा अपना पति चुनने का अधिकार भी था। साधारणतः वे पूर्ण वय को प्राप्त होने पर ही अपना विवाह करती थीं। प्रसिद्ध विद्वान् अलबरूनी जो महमूद गजनवी के भारत आक्रमणों में उसके साथ था लिखता है

कि स्त्रियाँ सभी शिक्षित होती थी और वे सार्वजनिक कार्यों में सक्रिय भाग लेती थी। लड़कियाँ संस्कृत पढ़ लिख सकती थीं और भली भाँति समझ लेती थी। वे लिखना नृत्य और चित्र बनाना जानती थी। उनमें पति निष्ठा की भावना अपूर्व थी और साथ ही अपने सम्बन्धियों के प्रति भी उनका व्यवहार परम प्रशंसनीय था। राजपूत नारी का चरित्र निष्कलंक था और उसकी भावना राष्ट्रीय थी। 'जौहर' के रूप में वे सब अपना सामूहिक आत्मघात कर लेती थी जिससे विदेशी विजेता उनका अपमान न कर सके। इसी भाँति सती उनके व्यक्तिगत प्रेम का एक अनन्य उदाहरण है जिसके द्वारा वे अपनी अपूर्व पति निष्ठा का परिचय देती थी।

उस समय बहु-विवाह की प्रथा केवल राजवंशो में थी। साधारण लोग एक ही विवाह करते थे। संयुक्त परिवार की प्रथा देश भर में व्याप्त थी। गृहस्थ जीवन का आदर्श उत्कृष्ट था। बाल-विवाह की प्रथा भी बढ़ने लगी थी। स्वयंवर की प्रथा कम होने लगी थी। कन्नौज नरेश जयचन्द की पुत्री संयोगिता द्वारा राजा पृथ्वीराज का स्वयंवर शायद अपने ढंग का अन्तिम स्वयंवर था। इस भाँति वे सभी बातें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगी थी जिन्होंने बाद में चलकर सारी सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित कर दिया।

राजपूत राजा विद्याप्रेमी थे। वे विद्वानों को आश्रय देते थे। उनकी संरक्षता में सब प्रकार की विद्याओं का अध्ययन होता था। काव्य गीत नाटक उपन्यास इतिहास राजनीति गणित ज्योतिष आयुर्वेद आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थ रचे गये। काव्यों में माघ का शिशुपाल-वध भर्तृहरि का भट्टिकाव्य तथा श्रीहर्ष का नैषध चरित्र बहुत प्रसिद्ध हैं। गीति काव्य का सबसे बड़ा कवि जयदेव १२वीं शताब्दी में हुआ था जिसकी प्रसिद्ध रचना 'गीत गोविन्द' का इसी समय निर्माण हुआ था। कवि ने इस ग्रन्थ में आदि से लेकर अन्त तक अपनी काव्य प्रतिभा का अद्भुत चमत्कार दिखाया है। इस युग में नाटककार भी कई हुए। उनमें भवभूति सबसे अधिक

प्रसिद्ध हैं। उसने उत्तर रामचरित मालतीमाधव तथा महावीर चरित नाम के तीन नाटकों की रचना की। यह कन्नौज के राजा यशोवर्मन के दरबार म रहते थे। भवभूति ने प्रकृति का बडा सुन्दर वणन किया है। उनके नाटकों में मनोवेगो का इतना स्वाभाविक चित्रण है कि करुणरस के सिद्धहस्त कलाकारों में वह अग्रगण्य समझ जाते हैं। १ वी शताब्दी मे कन्नौज के राज-दरबार म कपूरमजरी का रचयिता राजशेखर कवि विद्यमान था। भारतीय साहित्य म इस नाटक की गणना उच्च काटि के सुखान्त नाटकों म है। १२वी शताब्दी मे कृष्ण मिश्र ने वष्णव धम की प्रशसा मे प्रबोध चन्द्रोदय नाटक की रचना की।

कहानियो तथा कल्पित आख्यायिकाओ के द्वारा लेखक लोगो को सासारिक ज्ञान की शिक्षा दिया करते थे। इस श्रणी का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ पचतत्र है जो बडा रोचक है। इसम व्यावहारिक ज्ञान तथा नतिक आचरण की शिक्षा दने वाली कई कथाए है। नवयुवका के लिये तो यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। इसी ग्रन्थ के आधार पर १०० १३ ० ई के बीच हितोपदेश की रचना हुई थी। इसके अतिरिक्त एक उल्लेख नीय ग्रन्थ कथा सरित्सागर है। इसकी रचना ११वी शताब्दी में काश्मीर देश के कवि सोमदेव ने की थी।

कल्हण ने १२वी शताब्दी मे राजतरगिणी नामक इतिहास ग्रन्थ लिखा। इसमें काश्मीर के राजाओ का वणन है। कई जीवन-चरित्र भी लिखे गये जिनम बिल्हण का विक्रमाकचरित बल्लाल का भोजप्रबन्ध तथा सनाढ्य करनन्दी का रामचरित बहुत प्रसिद्ध हैं। विक्रमाकचरित मे चालुक्य वश के राजा छठे विक्रमादित्य का जीवन चरित हैं और राम चरित में बगाल के एक पाल राजा की जीवनकथा वर्णित है।

प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचाय इसी काल मे हुए। चिकित्साशास्त्र पर ग्रन्थ लिखने वालों म वाग्भट्ट का नाम प्रसिद्ध है। उसने ८०० ई० के लगभग अपने ग्रन्थ रचे।

इस काल म धमशास्त्र का सबसे प्रसिद्ध लखक विज्ञानेश्वर था।

उसने धर्मशास्त्र पर एक भाष्य लिखा जो मिताक्षरा के नाम से प्रसिद्ध है भारत के कुछ भागो मे यह आज भी काम म लाया जाता है।

जनिया ने भी प्रभूत साहित्य का निर्माण किया। हरिभद्र नामक एक प्रसिद्ध लेखक नवीं शताब्दी मे उत्पन्न हुआ। उसने कई ग्रन्थ लिखे। बडे-बडे महन्तो योगियो तथा तीर्थकरों के जीवन चरित लिखे गय। इन ग्रन्थो का उद्देश्य जनता को नतिक शिक्षा देना था। इस काल का सबसे बडा प्रसिद्ध विद्वान् हेमचन्द्र सूरि था जो गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल के दरबार मे था।

इस काल म राजपूतो के बनवाय हुए मन्दिर वास्तुकला के अच्छे नमूने हैं। इन मन्दिरो के बनवाने म बहुत धन व्यय किया गया। तीन प्रसिद्ध शलियाँ प्रचलित थीं—नागर वेसर तथा द्रविड। इनमें से प्रथम दो कन्नाभद्रतिया को यूरोपीय विद्वान् क्रमश इंडो आर्य तथा चालुक्या की शैली कहते हैं। वसर शैली म एक शिखर होता है। बौद्ध गया से लेकर उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश तक तथा कांगडा से धारवाड तक ऐसे शिखर पाये जात हैं। द्रविड शैली म छोटे-बडे कई बुर्ज रहते हैं और सिरे पर एक बडा चन्द्राकार गुम्बज रहता है। इस शैली के नमूने तामिल देश तथा दक्षिण म पाये जाते हैं। चालुक्य शैली इन दोनो के मिश्रण स बनी है। इसके नमूने बम्बई अहाते के मध्य भाग म पाये जाते हैं।

उडीसा म भुवनेश्वर का मन्दिर बुन्देलखण्ड मे खजुराहो का मन्दिर तथा आबू पर्वत का जैन मन्दिर प्रसिद्ध इमारतें हैं। ये तीनों स्थान नागर श्रेणी के उत्कृष्ट नमूने हैं। आबू का जैन मन्दिर सफेद संगमरमर का बना हुआ है। उसम पत्थर की खुदाई का काम अत्यन्त उच्च कोटि का है।

मामल्लपुरम् के रथ मन्दिर कांची के पल्लव मन्दिर एलोरा का कैलाश मन्दिर तथा १० ० ई० के लगभग राजाराज चोल का बनवाया हुआ तंजोर का मन्दिर द्रविड शैली के उत्कृष्ट नमूने हैं।

चालुक्यों ने भी अनेक मन्दिर बनवाये। १२वीं शताब्दी में हाय

मल वंश के राजा विष्णुवर्द्धन का बनवाया हुआ बेलूर का मन्दिर दर्शनीय इमारत है। किन्तु हलविद (प्राचीन द्वार समुद्र) का मन्दिर चालुक्यों की स्थापत्य कला का सबसे सुन्दर उदाहरण है। इसका निर्माण सन १२ ई० के लगभग प्रारम्भ हुआ था परन्तु कभी पूरा न हो पाया। इस दशा में भी इसकी गणना उच्चकोटि के मन्दिरों में है।

इस काल में समस्त देश में अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ था। महमूद गजनवी भी मथुरा के मन्दिरों को देखकर चकित रह गया था।

हर्ष की मृत्यु के बाद हिन्दुओं ने उपनिवेश स्थापित करने का काम बन्द नहीं कर दिया था। कम्बोडिया इस समय तक हिन्दू राजाओं के अधिकार में था। बारहवीं शताब्दी में एक हिन्दू राजा ने अंगकोरवट नाम का प्रसिद्ध विष्णु मन्दिर बनवाया। इन उपनिवेशों में ब्राह्मण धर्म तथा बौद्ध धर्म दोनों का साथ-साथ प्रचार हुआ किन्तु जावा में बौद्धधर्म का बड़ा प्रभाव पड़ा। बोरोबुदूर के ध्वंसावशेष से इस कथन की पुष्टि होती है

सोलहवाँ अध्याय

अनेकता की ओर

उक्त लगभग ४ शताब्दियों के इतिहास की प्रगति का हम यदि कोई एक शीर्षक देना चाहें तो वह होगा 'एकता से अनेकता की ओर'। जीवन की प्रत्येक दिशा में हम जाति को अनेकता की दिशा में बढ़ता देखते हैं। सबसे पहले आप धार्मिक प्रगति पर दृष्टि डालिये। महात्मा बुद्ध से पूर्व देश धार्मिक दृष्टि से एक ही दायरे के अन्दर था। उस समय के धर्म को हम केवल व्यवच्छेद के लिये 'वैदिक धर्म' अथवा 'श्रौत धर्म' कह सकते हैं। उस समय की भाषा में तो वह केवल धर्म के शब्द से ही निर्दिष्ट किया जाता था। वेदों के समय से लेकर महात्मा बुद्ध से पूर्व काल तक उसमें अनेक परिवर्तन हुए। ब्राह्मण सूत्र और उपनिषदों में से होता हुआ वह रामायण तथा महाभारत तक पहुँचा और समयान्तर में बहुत से दोषों का प्रवेश हो जाने से उसका रूप इतना विकृत हो गया था कि महात्मा बुद्ध को उसके विरुद्ध प्रचार करना पड़ा। बौद्ध धर्म के मैदान में आ जाने से देश में एक ही जगह दो धार्मिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो गई जिनका संघर्ष लगभग तीन सौ वर्षों तक जारी रहा।

उसके पश्चात् बौद्ध-धर्म के प्रति जोरदार प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई। गुप्तकाल में जो विक्रमकाल का ही एक परिच्छेद था वह प्रतिक्रिया चरमसीमा तक पहुँच गई जिससे भारत में बौद्ध-धर्म निर्बल पड़ गया। राजा हर्षवर्धन ने फिर एक बार अपने राज्यकाल में प्राचीन श्रौत धर्म के समकक्ष बनाकर बौद्ध-धर्म को जागृत करने की चेष्टा की परन्तु वह यत्न अधिक सफल न हुआ और हर्षवर्द्धन के पश्चात् राजधर्म के रूप में बौद्ध धर्म का लोप हो गया। कहीं-कहीं जन-धर्म के रूप में वह

टिमटिमाता रहा। कुमारिलभट्ट और शंकराचार्य के प्रचार ने उसके रहे सह दम को भी तोड़ दिया।

भारत में बौद्धमत प्रायः लुप्त होता गया परन्तु इसके जाने से पूर्व विचारों की जो एकता थी वह वापिस न आ सकी। बौद्धमत कई रूपों में अपनी अवाप छाड़ गया। बौद्धमत के निर्वाणवाद ने वेदान्त के ब्रह्मवाद के रूप में पुनर्जन्म ले लिया। बौद्धमत में ईश्वर के स्थान पर महात्मा बुद्ध की और उसके साथी जैनमत में महावीर स्वामी तथा जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों की पूजा होने लगी थी। उसके प्रभाव से और उसके उत्तर के रूप में प्राचीन भारतीय धर्म में भी देवताओं की मूर्तियाँ बनने और पुजने लगीं। यदि यह मान लिया जाय कि मूर्त रूप में भगवान् की पूजा बौद्धकाल से पहले भी प्रचलित थी तो भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बौद्ध और जैनमतों के प्रभाव में उसमें बहुत वृद्धि हुई। मूर्ति-पूजा का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि धार्मिक क्षेत्र में देववाद की भावना दृढ़ होकर धार्मिक अनेकता का कारण बनी।

जब एक बार देवताओं की संख्या बढ़ने लगी तो वह सीमा का अतिक्रमण कर गई। नये-नये देवताओं की कल्पना होने लगी और उनके भक्तों ने अपने अपने पूज्य देव का यशोगान करने और उसे प्रसन्न करने के लिए नये-नये पुराणों की रचना की। प्रत्येक बड़े देवता का पुराण बन गया जिसमें धार्मिक अनेकता चरम सीमा तक पहुँच गई। अनेक नये-नये पुराणों तथा उपपुराणों की रचना और अनेक देवताओं के नाम पर मन्दिरादि निर्माण का विशेष जोर इन्हीं चार शताब्दियों में रहा। इस प्रकार यह शताब्दियाँ भारत में सब अनेकताओं की आधारभूत अनेकता—धर्म सम्बन्धी अनेकता—की जननी बन गई।

स्वभावतः उस अनेकता का स्थूलतम रूप अनेक मत-मतान्तरों के रूप में प्रगट हुआ। न केवल इतना ही हुआ कि पुराना वैदिक धर्म बौद्ध धर्म और जैन धर्म सर्वथा एक दूसरे से अलग हो गये, इन तीनों की आन्तरिक विभिन्नताओं ने जोर पकड़ लिया। तीनों ही अनेक सम्-

दायों म विभक्त हो गय। भारत के लगभग ६४ फीसदी निवासी शैव धम के मानन वाल थे इस कारण मत-मतान्तरो और सम्प्रदायो की अधिकता उन्हीं में हुई।

शैव मत के दो भाग हो गय। एक पुराना शैव मत और दूसरा नया शैव मत जिसका नाम लिंगायत सम्प्रदाय पडा। मुख्य रूप स इसका प्रचार दक्षिण म हुआ।

वैष्णव मत भी दो भागा मे विभक्त हो गया। एक पुराना वष्णव सम्प्रदाय जिसम विष्णु का दिव्य रूप मुख्य था। दूसरा वष्णव सम्प्रदाय एसा बन गया जो अवतारवाद का सहारा लकर विस्तृत होता गया और जिसका अन्तिम रूप भक्तिवाद के रूप म प्रगट हुआ।

व्यावहारिक धम को भी अनक टुकडा म बाँट दिया गया। मूलरूप में वैदिक धम म ज्ञान कर्म और उपासना का समुच्चय था अब तीनो खण्ड अलग अलग पन्थो के रूप म परिणत हो गय। ज्ञानकाण्ड मानने वाले कम का खण्डन करने लग और कमकाण्डी लोग ज्ञान का उपहास करने लगे। उपासना म निरत लोग ज्ञान और कम दोनो को व्यर्थ बताने लगे। इस प्रकार अद्वैतवादी तान्त्रिक और भक्तिवादी यह तीनो सम्प्रदाय पृथक-पृथक हो गये।

धर्म के क्षेत्र म बहती हुई इस भेद भावना का प्रभाव सामाजिक सगठन पर भी पडा। वदिककाल म कर्मानुसार वर्णों की जो व्यवस्था मानी जाती थी वह मध्यकाल म जन्म के अनुसार वर्णभेद के रूप म परिवर्तित हो गई। चारो वर्ण चारों बन्द कमरे बन गय जिनके द्वार बन्द कर दिये गये थे। जन्मानुसार वर्ण-व्यवस्था और वर्णों की कठोर ऊँच-नीच की भावना का जन्म उसी युग म हुआ। हमन देखा है कि मध्य युग म अनेक पुराणा उपपुराणा और नई-नई स्मृतियो की रचना हुई। उन सभी म न्यूनाधिक रूप म धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रो में बहती हुई भेद भावनाओ के चिह्न मिलते हैं। जो पुराणकर्त्ता जिस देवता का उपासक था उसने उसे बढाने और अन्य सब देवताओं को

उसस हल्का बतलाने में कोई कसर नहीं छोडी । वण धर्मों म इसी प्रकार ऊँच-नाच की भावनाओं को बढ़ावा दिया गया । उस समय के भेद-मूलक विचारा का एक विशेष चिह्न यह है कि जिन्हें वर्णिक समय म वण नाम स निर्दिष्ट किया जाता था उनका दूसरा नाम जाति (जन्म) भी पड गया ।

वर्णों की भेद भावना केवल चार वर्णों की कठोर भिन्नता तक हा समाप्त नहीं हुई यह और आग बढ़ी और चारों वण जातिया के रूप म परिणत होकर उपजातिया म विभक्त हा गये । ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चारा वण सकडों उपजातिया में बट गय और हरेक उपजाति एक दूसरे से एस हा अलग हा गई जस जातियाँ एक-दूसरे म अलग हुई था । फलत भारत का सारा मनुष्य समाज धार्मिक और सामाजिक दृष्टि स हजारा टुकडा म बट गया । सबस बुरा बात यह हुई कि कर्मों के द्वारा एक वण स दूसर वण में जान की बात तो कहाँ एक उपजाति स दूसरा उपजाति म जाना भा धम के विरुद्ध माना जान लगा । इस दुर्भावना न हमारा जाति को कितनी हानि पहुँचाई यह सब प्रगट हुआ जब काला न्तर म भारतवासी विधर्मियों के सघष म आय । विधर्मिया के सघष में आन पर भारतवासी दोनो तरह घाटे म रहे । न व विधर्मियो को अपन अन्दर विलीन कर सके और न ही सघष म गय हुए अपने सहजातिया को अपन अन्दर वापस ल सक । उस समय क हिन्दू धम ने जा घाट का सौदा शुरू किया वह बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक जारा रहा । हमारी एक हजार वष लम्बी दासता का एक मूल कारण यहा था ।

साहित्य के क्षत्र में—सापेक्ष एकता स निश्चित अनेकता की ओर जा प्रवृत्ति धम और समाज के क्षेत्र म प्रारम्भ हुई उसका साहित्य के क्षेत्र म पहुँच जाना स्वाभाविक हा था । जिस काल की विशेषताओं पर हम दृष्टि डाल रहे हैं उसका उत्तर भाग देश में अनेक भाषाओं और लिपियों के विकास क इतिहास म विशेष स्थान रखता है ।

अत्यन्त पूवकाल म सम्भवत महात्मा बुद्ध स भी कई सदी पहल

सारे देश म सस्कत भाषा ही प्रयुक्त होती थी। प्रतीत होता है कि महात्मा बुद्ध के समय में जहां देशभर को शृंखला म बांधने वाली और राजकाज म तथा साहित्यिक कार्यों म प्रयुक्त होने वाली भाषा सस्कत ही थी वहां सर्वसाधारण जनता म अपभ्रंश या प्राकृतिक भाषा म भी प्रयुक्त होती थी। ससार के सभी महान प्रचारको और उपदेशकों ने अपने विचारा के विस्तार के लिए लोकभाषा का सहारा लिया है। महात्मा बुद्ध ने भी लोकभाषा का सहारा लिया और इस प्रकार सस्कत भाषा की प्रमुखता को चुनौती दी। महात्मा बुद्ध के अनुयायियों ने भी चिरकाल तक लैखिक तथा मौखिक प्रचार के लिए लोकभाषा का ही प्रयोग किया।

लगभग तीन शताब्दियो के पश्चात जब फिर से बौद्ध धर्म का पुनर्जागरण हुआ तब सस्कत का भी पुनरुत्थान हुआ। उस समय से शुरू होकर विक्रम से लगभग ७०० वष पीछे तक यद्यपि प्राकृत भाषायें विद्यमान रहीं तो भी सस्कत की प्रधानता हो गई। सस्कृत के नाटको मे स्त्रियों की और अशिक्षित लोगो की बातचीत मे प्राकृत भाषा का ही प्रयोग होता था पर तु उनकी मुख्य भाषा सस्कत रहती थी। सस्कत की मुख्यता का सम्पूर्ण वातावरण पर इतना प्रभाव पड़ा कि बौद्ध और जन मत के कवियो और दार्शनिको ने भी अपने ग्रन्थ सस्कृत भाषा म ही लिखने आवश्यक समझे।

राजा हर्षवर्धन के दो सदी पीछे तक वही अवस्था चली। उसके पश्चात् प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे अन्य सब क्षेत्रो की तरह भाषा के क्षेत्र म भी एकता की हानि और अनेकता का विकास होने लगा। देश भर को एक केन्द्र म बांधने वाली भाषा शिथिल होने लगी और सस्कत प्राकृत और अपभ्रंश के मिश्रण से बनी हुई प्रादेशिक भाषाएँ प्रबल होने लगीं। यदि हम वर्तमान प्रान्तिक भाषाओं के इतिहास की छानबीन करें तो हम उनका प्रथम प्रादुर्भाव मध्यकाल के उत्तर म ही पायेंगे। बगला हिन्दी राजस्थानी पंजाबी गुजराती मराठी आदि उत्तर की और

कन्नड़ तलगु, तामिल और मलयालम आदि दक्षिण भाग की भाषाओं का उसी काल में प्रारम्भ हुआ। उससे पूर्व भिन्न-भिन्न प्रदेशों में लोकभाषा का भेद होते हुए भी राजभाषा और शास्त्रीय निर्माण की भाषा का स्थान संस्कृत को प्राप्त था। इस काल से स्थिति में परिवर्तन हो गया। भिन्न भिन्न प्रदेशों में प्रादेशिक भाषाओं द्वारा राजकाज होने लगा। इन भाषाओं में ऊँचे दर्जे के साहित्य का निर्माण भी उसी समय आरम्भ हुआ। लिपियों के विकास के लिए भी यह काल विशेष महत्व रखता है। पूर्वकाल में भारत की लिपि में जो परिवर्तन हुए, वह व्यापक थे। अक्षरों का रूप बदलता था तो वह प्रायः सारे देश में व्याप्त हो जाता था परन्तु इस समय में जो परिवर्तन होने लगे वे प्रादेशिक रहे हरेक प्रदेश की लिपि अपनी अलग दिशा में विकसित होने लगी। भाषाओं की भाँति देश की अनेक लिपियों का स्पष्ट रूप में उद्भव भी मध्यकाल में ही हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकाल में (ईसा की सातवीं सदी और ११वीं सदी के मध्य में) भारत की संस्कृति का प्रवाह अनेकता की ओर बहता रहा। इस विस्तृत देश के बिखरे हुए अंगों को एक सूत्र में पिरोने वाले धर्म साहित्य आदि जितने भी साधन थे उनमें अनेकता का प्रवेश इतना तीव्रता से हुआ कि ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस भारत को बीसियों छोटे-छोटे कमरों के समुदाय के रूप में परिणत हुआ पाते हैं।

एकता से अनेकता की ओर जो प्रगति आरम्भ हुई उसके दो बड़े-बड़े परिणाम हुए। पहला परिणाम यह हुआ कि राज्य करना और देश की रक्षा के लिये युद्ध करना केवल क्षत्रियों का धर्म माना जाने लगा। जहाँ पूर्वकाल में हम संकट काल आ जाने पर ब्राह्मणों और वैश्यों को क्षत्रियों के कन्धे से कन्धा मिलाकर युद्ध की पंक्ति में खड़ा पाते हैं वहाँ मध्यकाल में लड़ना केवल क्षत्रियों का काम समझा जाने लगा।

दूसरा परिवर्तन यह हुआ कि क्षत्रिय भी अनेक शाखाओं और उप

भवन बना वह इतना विशाल था कि उसमें सबको विचारधाराएँ भा और विलीन हो गई। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों दार्शनिक सिद्धान्तों औ प्रमुख प्रवृत्तियों का जैसा सुन्दर समन्वय भारतीय संस्कृति में पाया जात है वैसा अन्यत्र कहीं न मिलेगा। गहरी नींव और विशाल भित्तियं पर बना हुआ भवन यदि ऐसा दृढ़ सिद्ध हुआ कि वह समय और परि स्थितियों की चोटें खाकर भी अभग्न रहा तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

पठान बादशाहों ने हिन्दुओं के साथ कठोरता का जो व्यवहार किय उसके दो ही परिणाम हो सकते थे या तो वे अत्याचारों से डर क इस्लाम ग्रहण कर लेते अथवा धर्म की रक्षा के लिये अपने चारों ओ किलाबन्दी करते। राजनीतिक किलाबन्दी तो टूट चुकी थी अब तो रक्ष का एक ही मार्ग था कि सांस्कृतिक किलाबन्दी की जाती। उन लोगों ने वही किया। उस समय के मुसलमान शासकों के बलात्कार की जो प्रति क्रिया भारतवासियों पर हुई वह निम्नलिखित रूप में प्रकट हुई—

(१) म्लेच्छों से घृणा—पहली और सबसे प्रबल प्रतिक्रिया तो यह हुई कि उस समय के हिन्दू मुसलमानों को म्लेच्छ और धार्मिक दृष्टि से हेय समझने लगे। राजनीतिक दृष्टि से पराधीन हो जाने पर भी आत्म सम्मान की रक्षा का एक यही उपाय था कि वे सांस्कृतिक दृष्टि से अपने आपको बहुत ऊँचा समझते। उस समय के मुसलमान हिन्दुओं को काफिर मानते थे। हिन्दुओं ने उसके उत्तर में उन्हें म्लेच्छ और हेय समझना आरम्भ कर दिया। रहन-सहन और भोजन आदि की भिन्नताओं ने घृणा की उन भावनाओं को और अधिक पुष्ट कर दिया।

(२) हिन्दुओं की कई सामाजिक कुरीतियों का प्रारम्भ उसी समय हुआ। परदे और छोटी आयु की लड़कियों के विवाह की जो प्रथा बीज रूप में पहले से विद्यमान थी वह उस समय की परिस्थितियों के कारण दृढ़ और व्यापक हो गई। कन्याओं को शासक-वर्ग की कुदृष्टि से बचाने के लिये परदे में रखना और छोटी आयु में ब्याह देना आवश्यक समझा जाने लगा।

(३) देश की साहित्यिक प्रगति पर प्रारम्भ में तो इस्लाम के सफल आक्रमण का बहुत बुरा असर हुआ। प्रगति रुक-सी गई। यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन पाँच शताब्दियों में संस्कृत के कोई बड़े कवि हुए ही नहीं परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि उस समय में कालिदास भारवि और क्षमेन्द्र की टक्कर के कवियों का अभाव ही रहा है। ग्रन्थ तो अनेक लिखे गए पर उनमें से प्रथम श्रेणी के बहुत कम हैं। यह मानी हुई बात है कि साहित्य की लता राजसहाय्य के सहारे से ही ऊपर चढ़ती है। उसका अभाव हो जाने से साहित्य की प्रगति का रुक जाना आवश्यक ही था। हिन्दी भाषा का उस समय उद्भव हो रहा था। उसमें भी कुछ काव्य लिखे गए परन्तु उनमें जीवन और स्फूर्ति का अभाव था। यह उस समय की दबी हुई राजनीतिक महत्वाकांक्षा का परिणाम था।

(४) इस प्रकार चारों ओर से रुक जाने पर भारतवासियों की प्रतिभा ने अपने विकास के लिए एक नया ही मार्ग आविष्कृत किया। वह था भक्तिमार्ग। जब देश के कवियों और दार्शनिकों को राजसहाय्य न मिला और स्वतन्त्रता से धार्मिक और नैतिक विषयों पर कहने की स्वतन्त्रता भी छिन गई तब उन्होंने बहिर्मुखता को छोड़कर अन्तर्मुखता का आश्रय लिया। वे भक्ति-मार्ग की ओर झुक गये। कवियों में तुलसी मीरा वैष्णव आदि और दार्शनिकों में रामानुज वल्लभाचार्य आदि विद्वानों की इस संघर्षहीन अन्तर्मुखी पद्धति पर उस समय की राजनीतिक परिस्थिति का गहरा प्रभाव था। इस विचार-पद्धति के अन्तिम फल रामानन्द नामदेव कबीर नानक आदि भक्त थे जिन्होंने सदियों के लम्बे विचार-संघर्ष से तंग आकर हिन्दू और मुस्लिम विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर इस्लाम के आक्रमण के उत्तर में भारतीय संस्कृति ने आत्म रक्षा के लिए किलाबन्दी करने का प्रयत्न किया वहाँ साथ ही संघर्ष को मिटाने के लिए समझौते का रास्ता

भी निकाला।

भक्ति-मार्ग—ऊपर कहा गया है कि भारत का भक्ति-मार्ग मुस्लिम राज्य का परिणाम था। इस कथन को स्पष्ट करना आवश्यक है। भक्ति-मार्ग इस्लाम की शिक्षा अथवा विचार प्रणाली का सीधा परिणाम तो हो नहीं सकता था क्योंकि प्रारम्भ म इस्लाम की विचार प्रणाली से मनुष्य पर जो प्रभाव उत्पन्न होता है भारतीय शैली की भक्ति का उसम कोई स्थान नहीं है। समयान्तर म इस्लाम म जो सूफी सम्प्रदाय चला अथवा स्थान-स्थान पर अनेक पीर और ख्वाजा हुए, वह इस्लाम पर भारतीय वेदान्त तथा भक्ति-मार्ग के प्रभाव का परिणाम थे। अत भक्ति मार्ग हिन्दू धर्म पर इस्लाम के सीधे प्रभाव का परिणाम नहीं था।

यों तो भक्ति मार्ग उपासना का ही एक प्रकार है और उपासना को वैदिक काल से ही धर्म का त्रिकांडी का एक अंग माना जाता था। ज्ञान कर्म और उपासना ये तीन धर्म के समान रूप से अंग थ। जब तक उन तीनों का ठीक समन्वय रहा तब तक जाति म पूर्णता रही जब तीन मार्ग अलग अलग समझ जाने लगे तभी भारतीय जीवन एकांगी और निर्वल हो गया। कर्म से विहीन ज्ञान न अद्वैतवाद का रूप धारण किया ज्ञान-विहीन कर्म न यज्ञमार्ग का अनुसरण किया और ज्ञान तथा कर्म स पृथक् कृत उपासना भक्ति-मार्ग क रूप म प्रकट हुई। इस मार्ग क सम्पुष्ट होने म राजनीतिक परिस्थिति का जो हिस्सा था वह भक्ति-मार्ग क प्रमुख महाकवि तुलसीदास क निम्नलिखित पद्य से ध्वनित होता है।

कोउ नृप होउ हमें का हानी।
चेरी छाँड़ि न होइवँ रानी।

इस्लाम का आक्रमण आशातीत शीघ्रता से सफल हो गया इसस भारत की प्रतिभा स्तब्ध सी हो गई। मुसलमानों का एक वंश क पीछे दूसरा वंश शासन करन लगा। जिसका प्रभाव सामान्य देशवासियों पर यह पड़ा कि राज्य म्लेच्छों क हाथ चला गया है। अस्तु राजा किसी का हो जाने दो हम तो अपन पूज्य देवता की आराधना म लग जाना चाहिए।

जैसे संसार का ठोकरें खाकर मनुष्य वैराग्य की ओर जाता है उसी प्रकार देश की राजनीतिक परिस्थिति से निराश होकर भारत के कवि और दार्शनिक सर्वथा अन्तर्मुख हो गये और केवल भक्ति में अपने हृदय को सन्तोष देने लगे। यही कारण है कि भक्तिकाल के कवियों में से किसी ने भी देश की उस समय की राजनीतिक परिस्थिति की ओर हल्का सा निर्देश भी नहीं किया। उस समय के भक्तों ने बाहर के अन्धकार से विरक्त होकर हृदय में भक्ति का दीपक जलाने का यत्न किया।

यह भारतीय संस्कृति की दृढ़ता का एक अकाट्य प्रमाण है कि वह इतने बड़े राजनीतिक आघात से भी मरी नहीं और मूर्छित भी नहीं हुई। उसने केवल अपने प्रकाशित होने का दूसरा मार्ग अपना लिया। उस भक्तिकाल में तुलसी, मीरा और सूर जैसे महान कवियों को उत्पन्न करके भारत की प्रतिभा ने यह सिद्ध किया कि बड़ी-से-बड़ी राजनैतिक आपत्तियों के समय में भी वह निर्बाध रूप से सूर्यमण्डल को छू सकती है। एक बात यह स्पष्ट हो गई कि रामायण, महाभारत तथा भारत के अन्य प्राचीन ऐतिहासिक महाकाव्यों ने जाति के सामने ऊँचे धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सिद्धान्तों तथा व्यक्तियों के रूप में ऐसे आदर्श स्थापित कर दिये हैं कि भारत की प्रतिभा कभी अवलम्बहीन नहीं हो सकती। निराशा के घोर अन्धकार में भी उस आशा की किरण दिखाई देती रहती है।

कुछ लेखकों ने कार्य-कारण की रस्सी को बहुत बुरी तरह से खींचा है। एक विद्वान ने अपनी "अवर हेरिटेज" नामक पुस्तक में दो बड़ी अद्भुत कल्पनाएँ प्रकट की हैं। पहली कल्पना तो यह है कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद इस्लाम के प्रभाव का परिणाम था। यह कल्पना स्पष्टतः इतनी निर्मूल है कि उसे सिद्ध करने के लिये लेखक को सम्भावनाओं की कच्ची लकड़ी का सहारा लेना पड़ा है। शंकराचार्य ईसा की आठवीं शताब्दी में हुए थे। तब तक इस्लाम का कदम सिन्ध से आगे नहीं बढ़ा था और शंकराचार्य हुए दक्षिण में। प्रश्न उठता है कि जब अभी इस्लामी राज्य

दक्षिण भारत से कोसों दूर पड़ा हुआ था तब शंकराचार्य ने उसके ज्ञान-भण्डार में से अद्वैतवाद के मोती कैसे उठा लिये? विशेषतः उस दशा में जब कि उस समय तक इस्लाम में अद्वैतवाद से मिलती-जुलती कोई फिलासफी थी भी नहीं। उसका उत्तर 'अवर हेरिटेज' के लेखक श्री हुमायूं कबीर ने यह दिया है कि उन दिनों अरब के व्यापारी भारत के दक्षिण में व्यापार करने के लिये आया करते थे। लेखक का विचार है कि उन्हीं में से किसी की गुदड़ी में से शंकराचार्य ने अद्वैतवाद के मोती निकाल लिये होंगे। प्रतीत होता है कि 'अवर हेरिटेज' के लेखक ने केवल शंकराचार्य का नाम सुना है, उनके ग्रन्थ नहीं पढ़े। उन्होंने अद्वैतवाद और एकेश्वरवाद को एक ही वस्तु समझकर कल्पना का महल बना लिया है। न इस्लाम के किसी विचार से अद्वैतवाद का जन्म हो सकता था और न यह सम्भव था कि शंकराचार्य जैसा अद्भुत प्रतिभाशाली आचार्य किसी अरब व्यापारी से इस्लाम की चर्चा सुनकर वेदान्त के शारीरिक भाष्य की योजना बना लेता।

प्रोफेसर कबीर की दूसरी कल्पना और भी अधिक मनोरंजक है। आपने सम्मति दी है कि सम्भवतः विशिष्टाद्वैत के आचार्य रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों पर भी इस्लाम का ही असर था। इसे पढ़कर यह कहने को जी चाहता है कि प्रो० कबीर ने शंकराचार्य की भांति रामानुजाचार्य का अध्ययन भी उनके ग्रन्थों से नहीं किया, अपितु नाम से ही किया है अन्यथा वह अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद दोनों का उद्भव स्थान एक इस्लाम को ही न बताते। 'अद्वैतवाद' 'विशिष्टाद्वैतवाद' और भक्ति-मार्ग तीनों का उद्भव स्थान इस्लाम को ही बतलाने वाले विचारकों के सम्बन्ध में बड़ी उदारता से काम लें तो यही सम्मति बनानी पड़ेगी कि उन्होंने भारतीय वाङ्मय का पक्षपातहीन दृष्टि से अध्ययन नहीं किया। इतिहास के ठीक अध्ययन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि इस्लाम और हिन्दू धर्म में मुगल काल से पूर्व जो क्रिया प्रतिक्रिया हुई उसके सांस्कृतिक परिणामों की सूची बनाएँ तो भक्त कबीर से लेकर गुरु नानक तक के

भक्तों के नाम उसम आ जायेंगे । उसके अतिरिक्त तुलसी मीरा सूर आदि भक्तों की कविताओं पर इस्लाम का कोई सीधा प्रभाव नही था। भारत की तात्कालिक दार्शनिक विचारधारा का तो इस्लाम के सिद्धान्तों ने स्पर्श भी नहीं किया था।

वास्तुकला (भवन निर्माण-कला) चित्रकारी और सगीत म यद्यपि थोडा-बहुत मिश्रण हो गया था परन्तु अभी इस्लाम और हिन्दू शिल्प रचनाओ का एक रूप नहीं हुआ था। उस काल की मुसलमान बादशाहो की बनाई हुई इमारतें ६६ फीसदी इस्लामी ढग की है और उस समय के हिन्दू मन्दिर तो लगभग १० फीसदी पुरान हिन्दू ढग के हैं। कहा-कही रचना पर चित्रों मे एक-दूसरे स समानता झलकती है। सम्भव है कि वह सम्पर्क का ही परिणाम हो परन्तु हम यह बात दृढतापूर्वक कह सकते हैं कि मुगलो से पूव के मुसलमान राज्यकाल म भारत मे अलग अलग दो लहरें चलती रही। मुसलमान शासक इस्लाम के रास्ते पर चलते रहे और हिन्दू प्रजा अपनी प्राचीन पद्धति पर मन्द परन्तु अनवरत गति से सरकती रही। सास्कृतिक उन्नति की दृष्टि से महमूद गजनवी के आक्रमणो से लेकर बाबर के आक्रमण तक का काल अधकार-काल ही है।

अठारहवाँ अध्याय

संस्कृतियों का मिश्रण

हमने देखा कि लगभग ५ वर्षों तक भारतवर्ष में हुकूमत करके भी मुसलमान भारत की संस्कृति पर कोई विशेष प्रभाव न डाल सके। बादशाह उनके साथी और सिपाही भारतवर्ष में ऐसे रहे जैसे किसी शहर में छावनी डालकर परदेसी लोग रहते हैं। वे लोग न भारत के हृदय को जीत सके और न मन को।

दक्षिण तो लगभग पूरा ही अछूता बना रहा। अलाउद्दीन खिलजी और उसके सेनापति मलिक काफ़ूर के आक्रमणों के अतिरिक्त कोई प्रभाव शाली आक्रमण भी दक्षिण पर नहीं हुआ और इस्लाम के पैर तो वहाँ सर्वथा नहीं जम सके। मुसलमान विजेता अपने विजय के मद में रहे और हिन्दुस्तान के निवासी अपनी धार्मिक और नैतिक श्रेष्ठता की धुन में मस्त रहे। भारत में शक्ति-सम्पन्न होकर मुसलमानों ने परलोक की चिंता छोड़ दी और राज्य खोकर हिन्दुओं ने इस लोक का मोह छोड़ दिया और भक्ति की बाँसुरी बजाकर गम गलत करने लगे। दो-चार साहित्यिक दृष्टान्तों को छोड़कर मुगलों के पूर्व तक दोनों जातियों के धार्मिक मानसिक या सामाजिक मिश्रण के कोई विशेष दृष्टान्त नहीं मिलते।

इसके मुख्य कारण दो थे। पहला कारण तो यह था कि भारत की सभ्यता और संस्कृति बहुत पुरानी बहुत दृढ़ और अपनी आध्यात्मिकता के कारण आक्रान्ताओं की संस्कृति से बहुत ऊँची थी। वह ऐसी निर्बल नहीं थी कि केवल शस्त्र-बल के सामने झुक जाती।

दूसरा कारण यह था कि मुसलमान विजेता ५०० वर्षों तक यह न समझ सके कि उन्हें जिस जाति से वास्ता पड़ा है वह कच्चा घड़ा नहीं है,

जो लाठी लगते ही टूट जायगा। वह भारतवासियो को केवल तलवार के बल से जीतने का यत्न करते रहे। जब यत्न सफल न हुआ तो उनका क्रोध और अधिक भडक उठा और वह और अधिक कठोरता बरतने लग जिससे भारतवासियों क हृदया म विद्यमान प्रतिस्पर्धा सौगुनी होकर घृणा और उपेक्षा के रूप म परिणत हो गई। दोनो जातियाँ एक ही देश म रहती हुई भी एक दूसरे से लगभग अलग-अलग सास्कृतिक दृष्टि से स्वतंत्र जीवन व्यतीत करती थी।

अब हम भारतीय इतिहास के मुगलकाल पर आते हैं। यह शेष मुसलमान काल स सर्वथा अलग अपनी विशेषतायें रखने वाला महत्व पूर्ण काल है। इसके प्रारम्भिक और मध्यकाल म इतिहास म एक नया परीक्षण किया गया जो बहुत दूर तक सफल हुआ। वह परीक्षण बीज रूप म राजनीतिक होता हुआ भी प्रारम्भ से ही सामाजिक साहित्यिक और धार्मिक क्षेत्रो म फैल गया और ऐसा फैला कि उसके बीज काश्मीर स लेकर दक्षिण के सुदूरवर्ती हिस्सो तक बिखर गय। वह वस्तुत दो सर्वथा विभिन्न सस्कृतियों के मिश्रण का परीक्षण था।

मुगलकाल की जितनी विशेषतायें हैं उनका आदिमूल हम वंश के संस्थापक बाबर क चरित्र म तलाश कर सकते हैं। बाबर अपने से पूर्व वर्ती मुसलमान आक्रान्ताओं से कई बातों म भिन्न था। वह कट्टर मुसलमान होते हुए भी मानव धर्म का प्रेमी था। उसका सारा जीवन बतलाता है कि उसका हृदय बहुत विशाल था। उसे कवि का हृदय कह सकते हैं। मजहबी पागलपन जसी वस्तु उस नहीं छू गई थी। वह वीर योद्धा तो था ही साथ ही प्रेमी पिता सहृदय कवि और महानुभाव शासक भी था।

उसन जिस वंश की बुनियाद रखी उसके मौलिक विचार उदार और दूरदर्शितापूर्ण थ। उनम स्वार्थ या मजहबी विचारों के कारण सघर्ष की भावना नही थी।

बाबर न १५२६ म मुगल साम्राज्य की स्थापना की। उसने भारत

में केवल ४ वर्ष तक राज्य किया। १५३० में वह मर गया। इन चार वर्षों में वह केवल इतना कर सका कि एक ओर पठान बादशाह को और दूसरी ओर राजपूत सेनाओं को परास्त करके उत्तरी भारत का शासक बन गया और साथ ही अपने उत्तराधिकारियों के सामने सहृदयता और मानवता का दृष्टान्त रख गया। बाबर अपने शत्रुओं से वीरतापूर्वक लड़ता था उन्हें युद्ध-कला से परास्त करता था और विजय प्राप्त करने के पश्चात उनसे उदारता का व्यवहार करता था।

हुमायूँ का जीवन घर में और बाहर भी संघर्ष में व्यतीत हुआ। उसे जमकर शासन करने या शासन-नीति बनाने का अवसर न मिला। फिर भी हम हुमायू के विषय में जितना कुछ जानते हैं उससे प्रतीत होता है कि उसका हृदय कूरी धर्मान्धता से बहुत ऊपर उठा हुआ था। यद्यपि वह बाबर की तरह कवि नहीं था तो भी कवि हृदय अवश्य रखता था।

हुमायूँ के पीछे अकबर राजगद्दी पर बैठा। अकबर के विषय में सामान्य रूप से अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह अपनी नीति और प्रवृत्ति के कारण केवल भारतीय इतिहास पर ही नहीं अपितु संसार के इतिहास पर अपनी छाप छोड़ गया है।

अकबर ने अपने से पहले मुसलमान शासकों की नीति में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन किये वे निम्नलिखित थे

(१) उसने हिन्दुओं पर जो जजिया कर लगाया जाता था उसे रद्द कर दिया

(२) उसने हिन्दुओं को और विशेषत राजपूत क्षत्रियों को अपने राज्य में ऊँचे-से-ऊँचे पदाधिकारी नियुक्त किया

(३) हिन्दू राजाओं से विवाह सम्बन्ध स्थापित किया और

(४) इस्लाम के कट्टरपन से असन्तुष्ट होकर दीने इलाही के नाम से ऐसे धार्मिक सम्प्रदाय की स्थापना का प्रयत्न किया जिसमें सब धर्मों की सचाइयों को उचित आदर का स्थान दिया गया है।

भक्त कबीर—कबीर ईसा की १५वीं शताब्दी के अन्त में हुआ। उसका

जन्म हिन्दू-कुल में हुआ था और पालन-पोषण मुसलमान जुलाहे के घर में हुआ। उसने कोई शास्त्र-शिक्षा प्राप्त नहीं की थी। अपने हाथ से कबीर ने कुछ भी नहीं लिखा पर जन्मसिद्ध प्रतिभा की सहायता से उसने ऐसा साहित्य उत्पन्न कर दिया जो लोकप्रियता और विचार की दृष्टि से अनुपम है। भक्त कबीर रामानन्द स्वामी का शिष्य था और राम का भक्त था।

कबीर के सिद्धान्त का सार यह है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों के सिद्धान्तों में जितना ईश्वर-प्रेम सचाई और सच्चरित्रता का अंश है वह ग्राह्य है और समान है और जितना रूढ़ि-पूजा मूर्ति-पूजा और हिंसा का अंश है वह हेय है। मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति न देव-मूर्ति के पूजन से मिल सकती है और न मस्जिद में बाँग देने से। उसे मोक्ष तो राम में सच्चा प्रेम रखने और दूसरों का भला करने से ही मिल सकती है।

इस सरल सिद्धान्त को लेकर कबीर ने जो साहित्य रचना की उसमें हमें दोनों संस्कृतियों के समन्वय का प्रथम सफल प्रयास दिखाई देता है।

कबीर प्रेम-धर्म का पुजारी था। कबीर ने कहा है—

जो घट प्रेम न संचरै
सो घट जान मसान
जैसे खाल लोहार की
साँस लेत बिनु प्रान।

वह भक्ति मार्ग को उत्कृष्ट मानता था।

और कर्म सब कर्म है
भक्ति कर्म निष्कर्म।
कहै कबीर पुकारिके
भक्ति करो तजि धर्म॥

कबीर कोरे ज्ञान और शास्त्र को व्यर्थ समझता था।

वेद कतेब छोप फन्द वारा।
ते फन्द पर आप विचारा॥

मुसलमानों के सुन्नत आदि विधानों का उपहास करता था—

मुनत कराय तुरक जो होना
औरत का का कहिये ।

अन्यत्र कहा है—

ना जान तेरा साहिब कैसा
मस्जिद भीतर मुल्ला पुकारे
क्या साहिब तेरा बहिरा है ।

कबीर हर प्रकार की हिंसा का विरोधी था । उसने कहा है—

बकरी पाती खात है
ताकी काढ़ी खाल ।
जो बकरी को खात है
तिनको कौन हवाल ॥

हिन्दू मुसलमानों के परस्पर कलह को वह मूर्खता का काम समझता था—

हिन्दू कहे मोहि राम पियारा
तुरक कहे रहिमाना ।
आपस में दुइ लरि लरि मुए
मरम न काहू जाना ॥

इस प्रकार कबीर के कुछ वचनों से स्पष्ट है कि उसकी विचार प्रणाली क्या थी । हिन्दुओं और मुसलमानों को ईश्वर भक्ति सत्य और प्रेम आदि मानवीय सिद्धान्तों की उपेक्षा करके आपस में लड़ते देखा तो उसे बहुत दुःख हुआ । उसने दोनों को भ्रममार्ग से हटा कर सन्मार्ग पर लाने के लक्ष्य से जिस विचार प्रणाली का आश्रय लिया वह यह थी कि साम्प्रदायिकता निःसार है । भक्तिमार्ग ही सच्चा है । मनुष्य ईश्वर प्रेम और भक्तिमार्ग की सहायता से ही सुख प्राप्त कर सकता है । वह हिन्दू हो या मुसलमान इससे कोई भेद नहीं आता । दोनों की विद्यमान पद्धतियाँ व्यर्थ और स्वार्थमूलक हैं ।

इस विचार-शृंखला के आधार पर भक्त कबीर ने हिन्दुओं और

मुसलमाना के भेन्ा को मिटाकर दोना सस्कृतिया म समन्वय का प्रयत्न किया।

गुरु नानक—दूसरे भक्तराज जिन्हान हिन्दू धम और इस्लाम म सम न्वय करने की चेष्टा की गुरु नानक थे। गुरु नानक की विचार शृखला भी प्राय भक्त कबीर जमी ही थी। वह एक भगवान् के उपासक थे—

एको एक कहे सब कोई
हउ में गरब बियाप।
भन्तर बाहिर एक पछाण
एहु घर महल सजाय॥

उनके मन म भगवान तक पहुँचने का मुख्य साधन गुरु था—

बलिहारी गरु भापण
दिउहाड़ी सद वार।
जिन माणस ते देवते
कोई करत न लागी वार॥

भाप पडित और मुल्ला दोना को भज्ञानी मानत थ—

वद म पाइया पडितो
जिन होवे लेख पुराण।
वखत न पायो कादिया
जिन लिखन लेख कुरान॥

वह भक्ति मे ही मुक्ति मानते थ—

तेरी भगति तेरी भगति
भडारजी भरे ब भनत बमन्ता।
तेरे भगत तेरे भगत
सलाहनि तुध जी हरि।
भनक भनक भनन्ता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगत कबीर व गुरु नानक की विचार धारा बहुत कुछ एक ही दिशा म चली है। दोना म मुख्य भेद दो थे।

भगत कबीर ने अपना प्रचार-कार्य भारत के मध्य भाग में किया और अपने काव्यमय उपदेश सर्वसाधारण की लोकभाषा हिन्दी में दिये। गुरु नानक का कार्य-क्षेत्र पंजाब था और उनकी भाषा में पंजाबी का अत्यधिक मिश्रण होने के कारण वह भारत के अन्य भागों तक न पहुँच सकी। दोनों के शिष्यों की प्रकृतियों में भी भेद था। कबीर के शिष्य शान्त प्रकृति के व्यक्ति थे और गुरु नानक के शिष्य स्वभावसिद्ध सिपाही थे। इस भेद के कारण दोनों के शिष्यों ने भी दो भिन्न रूप धारण किये। कबीर के भक्त कबीरपंथी बन गये और गुरु नानक के शिष्य सिख सरदार कहलाये।

इसी भाँति उस युग में अन्य भी अनेक भक्त हुए, जिन्होंने अपने अपने प्रान्तों की लोकभाषा में भक्तिमय काव्य ग्रन्थ लिखे। उनमें से कइयों के नाम पर पन्थ भी चल गये। परन्तु जिन दो सन्तों के उपदेशों का व्यापी और स्थिर असर हुआ, वे कबीर और नानक ही थे। दोनों की विचारधाराओं में यह समानता थी कि वे दोनों वेद, कुरान, पंडित और मुल्ला को यदि हेय नहीं तो उपेक्षायोग्य अवश्य समझते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों को रूढ़ियों से हटाकर भक्तिमार्ग पर चलने का उपदेश देते थे। इस प्रकार वे हिन्दू धर्म और इस्लाम का समन्वय करना चाहते थे।

यहाँ दो विचारणीय प्रश्न उत्पन्न होते हैं।

इन दोनों तथा ऐसे ही अन्य दो भक्तों को दोनों मतों के समन्वय में कहाँ तक सफलता मिली? यह पहला प्रश्न है। हमारा उत्तर तो निर्विवाद है। दोनों भक्तों को अपने कार्य में इतनी सफलता तो मिली कि उनके विचार सर्वसाधारण में फैल गये और साथ ही उनके शिष्यों ने जुदा पन्थ भी बना लिये, परन्तु सम्पूर्ण देश में उनकी विचारधाराओं का कोई सर्वव्यापी असर नहीं हुआ। कुछ भक्त और भक्तिमार्ग-अनुयायी दोनों ओर उत्पन्न हो गये, परन्तु हिन्दू धर्म और इस्लाम में किसी प्रकार का समन्वय न हो सका।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि भक्तो को इतनी कम सफलता क्या मिली ? व हिन्दुओ के अन्दर भी इतना कम मानसिक परिवर्तन क्यो कर सके ?

इसका कारण यह है कि हिन्दू धर्म या इस्लाम अथवा अन्य कोई भी मत-मतान्तर केवल भक्ति की भावना पर आश्रित नही रहता। मत की नीव जहाँ भक्ति पर रखी जाती है वहाँ विश्वास पर भी रखी जाती है। धर्म की नीव भक्ति और विश्वास दोनो से भरी जाती है। भक्तो ने भक्ति को महत्त्व दिया परन्तु विश्वास की उपेक्षा की। प्रत्येक मत मूलतत्वो पर आश्रित रहता है यदि वे मूलतत्व भिन्न नहीं तो मतो मे भेद ही क्या हो ? भक्तो ने हृदय को तो छुआ पर मस्तिष्क की उपेक्षा की। यही कारण है कि व पन्थो की स्थापना तो कर सके परन्तु दो मतो मे व्यापी समन्वय न कर सके। या परिमित क्षेत्रो मे उनके विचारो का थोडा-बहुत प्रभाव भी हुआ ही।

उन्नीसवाँ अध्याय

अकबर का दीने इलाही

हिन्दू और मुसलमान लगभग पाँच सौ वर्षों तक एक साथ रह चुके थे। कभी लड़ते झगड़ते और कभी मिल-जुलकर रहते। दोनो जातियों के यह पाँच सौ साल किसी तरह व्यतीत हुए। इतने सहवास से दोनों न ही यह बात अनुभव कर ली कि हम लड़कर एक दूसरे को नहीं मिटा सकते। वह हिन्दू राजा जिनके पूर्व पुरुषों यूनानी शक हूण सीथियन आदि कई जातियों के आक्रान्ताओं के मुँह मोड़ चुके थे इतने निर्बल हो गये थे कि न तो मुसलमान आक्रान्ताओं का प्रतिरोध कर सके और न उन्हें देश से निकाल सके। जब कभी ऐसा अवसर आया भी कि दिल्ली के मुसलमान बादशाह निर्बल होने लगे तो उत्तर से नये आक्रान्ताओं का आक्रमण हो गया और मुसलमानों में नया रक्त और नया उत्साह प्रवाहित हो गया। पाँच शताब्दियों के सम्पर्क से हिन्दू इस परिणाम पर पहुँच गये कि अब तो कलियुग आ ही गया है अतएव म्लेच्छों का राज्य भारत में स्थिर हो गया है।

दूसरी ओर पाँच सदियों तक भारत पर इस्लामी ढंग की हुकूमत करके मुसलमान शासक और बहुत से अन्य समझदार मुसलमान भी इस परिणाम पर पहुँच गये थे कि अब हिन्दुओं को किसी प्रकार से भी इस्लाम का अनुयायी नहीं बनाया जा सकता। हिन्दू राजनीतिक क्षेत्र में लड़ाई हार कर भी धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में विजयी रहे। उसका फल यह हुआ कि मुसलमानों के बहुत से नैतिक और धार्मिक नेताओं का यह विचार हो गया कि यदि भारत में सुख चैन से रहना है तो मुसल-मानों को हिन्दुओं से मिलकर रहना चाहिए।

इतने सहवास से हिन्दुओं और मुसलमानों ने अनुभव से यह भी सीखा

कि भलाई और बुराई किसी मत या सम्प्रदाय तक ही परिमित नहीं है। दोनों ओर भले भी हैं और बुरे भी। अच्छा वही है जो अपने प्रभु का भक्त हो और दूसरा का भला करे।

इन उपयुक्त अनुभूतियों ने हिन्दुओं में जो प्रतिक्रिया उत्पन्न की उसका प्रकाश कबीर, नानक आदि भक्तों की वाणियों में हुआ। मुसलमानों में वैसी ही प्रतिक्रिया सूफी सम्प्रदाय के आचार्यों में प्रकट हुई। इस्लाम का सूफी सम्प्रदाय हमारे वेदान्त से मिलता-जुलता है। सूफी लोग एक ब्रह्म में ही विश्वास रखते हैं और अवान्तर मत-मतान्तरों को मुक्ति का बाधक समझते हैं। उस युग में भारत में बहुत से सूफी औलिया हुए, जिन्होंने इस्लाम की संकीर्णता के विरुद्ध प्रचार किया और यहाँ तक कहा कि खुदा जैसे मस्जिद में है वैसे मन्दिर में भी है। वह हिन्दू और मुसलमान आस्तिक और नास्तिक दोनों में समान रूप से विद्यमान है।

जिन मानसिक प्रवृत्तियों का मैंने यहाँ वर्णन किया है उनका स्थूल रूप बादशाह अकबर था। बादशाह अकबर की राजनीति और उसकी धार्मिक नीति के मूल आधार ये थे।

पहला आधार स्वाभाविक था। अकबर ने मुगल वंश में जन्म लिया था। वह बाबर का पोता और हुमायूँ का पुत्र था। यह सर्वसम्मत बात है कि बाबर और हुमायूँ दोनों ही कट्टर मुसलमान होते हुए भी विशाल हृदय रखते थे। उनमें कविता और प्रकृति प्रेमियों वाली उदारता थी और वे दान के बड़े धनी थे। अकबर उनके संस्कारों के साथ उत्पन्न हुआ था और उनके हृदय में धर्मान्धता के बीज विद्यमान नहीं थे।

इस स्वाभाविक उदारता के साथ जब राजनीतिक दूरदर्शिता का मिश्रण हुआ तो परिणाम यह हुआ कि अकबर ने मुसलमान बादशाहों की उस नीति का परित्याग करने का निश्चय किया जिसके कारण हिन्दू मुसलमानों के हृदय में स्थायी विरोधी भाव हुए थे। अकबर ने देखा कि पाँच सौ वर्षों तक हुकूमत करके भी मुसलमान बादशाह न तो हिन्दुओं का समाप्त कर सके और न उन्हें अपना बना सके। फल यह हुआ कि कोई

मुसलमान चिरकाल तक राज्य न कर सका। प्रत्येक मुसलमान शासक को बाहर से आये हुए मुट्ठीभर मुसलमान योद्धाओं के भरोसे पर ही रहना पड़ता था। यही कारण था कि उत्तर दिशा से जो आक्रान्ता आता था वह पुरानी पीढ़ी को उखाड़कर फेंक देता था। अकबर के विवेकी मन ने यह परिणाम निकाला कि सल्तनत की जड़ों को पाताल तक पहुँचाने का एक यही उपाय है कि हिन्दुओं को सल्तनत का सहायक बनाया जाय।

अकबर ने अपने राज्य के प्रारम्भ से ही नई नीति का परिचय दे दिया था। अभी उसकी आयु बीस वर्ष की थी जब उसने अम्बर की राजकुमारी जोधाबाई से विवाह करके जयपुर के राजपूत परिवार से ऐसा गहरा सम्बन्ध स्थापित कर लिया कि मुगल साम्राज्य की जड़ें भूमि की बहुत गहराई तक चली गईं। जोधाबाई का विवाह १५६२ में हुआ। १५६२ में अकबर ने हिन्दुओं पर से वह कर उठा दिया जो उनकी तीर्थ यात्राओं पर लगा था और अगले ही वर्ष १५६४ में जज़िया कर रद्द कर दिया गया।

इस तरह शासन के प्रारम्भ काल में ही अकबर ने अपनी दूरदर्शिता-पूर्ण उदार नीति का परिचय दे दिया।

अकबर की उदार नीति के दो परिणाम निकलने आवश्यक थे। एक तो यह कि कुछ शक्तिशाली राजपूतों का और उनके साथ ही बहुसंख्यक हिन्दुओं का अकबर की ओर सद्भाव उत्पन्न हो गया। वे बादशाह के सहायक बन गये और दूसरा यह कि बहुत से कट्टरपंथी मुसलमान धर्माचार्य और उनके अनुयायी अकबर के विरोधी बन गये। यदि अकबर की इच्छा-शक्ति निर्बल होती तो वह मुसलमान मुल्लाओं और उनके शिष्यों से डर जाता परन्तु इसमें उसके मित्र और शत्रु दोनों ही सहमत हैं कि वह फौलादी मन्सूबे का आदमी था।

ज्यों-ज्यों उसका विरोध बढ़ता गया त्यों-त्यों मुल्लाओं की धर्मान्धता के विरुद्ध उसकी भावना भी दृढ़ होती गई। अन्त में अकबर यहाँ तक पहुँच गया कि वह कभी-कभी माथे पर टीका भी लगाने लगा लम्बी

दाढ़ी स ता उसे चिढ़ थी ही गोमास खाना उसन सवथा छोड दिया और प्याज और लहसुन से भी परहेज करने लगा। इस प्रकार उसने मुल्लाओ के सकुचित माग को छोडकर एस स्वतत्र माग का निर्माण करना आरम्भ किया जिसमे इस्लाम और हिन्दू दोनो के मत विद्यमान थ।

अकबर की इस मनोवृत्ति के विकास म उसके विद्वान् साथियो न भी सहयोग दिया। शख मुबारिक सूफी विचार रखन वाला एक बहुत बडा आलम था। अकबर उसका गुरु के समान आदर करता था। उसके फजी और अबुलफजल नाम के दोनो पुत्र भी सूफी मत के माननेवाले और ऊँचे दर्जे के विद्वान थ। वे अकबर क अनन्य साथी और सलाहकार थे। अकबर स्वय सर्वथा अनपढ था। उसन सारा ज्ञान सुन-सुनकर ही प्राप्त किया था। उसकी धारणा-शक्ति इतनी प्रबल थी कि जो बात एक बार सुन लेता था वह न कवल उसके स्मृति-पट पर बठ जाती थी बल्कि पूरी तरह हृदय के अन्तस्तल म भी उतर जाती थी। फजी और अबुलफजल के सग ने उसके अन्दर ज्ञान की पिपासा पदा की जिसे पूरा करने के लिय अकबर न अपने आगरे क किले म एक शानदार इबादतखाना बनवाया। उस इबादतखाने म अनेक मत-मतान्तरों के विद्वान् एकत्र होकर धार्मिक और आध्यात्मिक विषयो पर शास्त्राथ और ज्ञान चर्चा करते थ। अकबर उनक सामन विचार के लिए प्रश्न रखता था और वे उस पर अपन अपन सिद्धान्तो का प्रतिपादन और अन्य सिद्धान्तो का खण्डन करत थ। बादशाह ही प्रश्नकर्त्ता और अन्त म बादशाह ही निर्णायक होता था। उन चर्चाओ म मुसलमान सैयद और मुल्लाओ के अतिरिक्त हिन्दू पारसी और ईसाई धर्माचार्य भाग लते थे।

इस प्रकार के शास्त्रार्थों और कभी-कभी वितण्डावादो को सुन-सुन कर अकबर क मन पर यह विचार जम गया कि य सभी प्रचलित मत मतान्तर भ्राति से भरे पडे हैं। सचाई सब म है परन्तु पूरी सचाई कही भी नही। उसने यह विशेष रूप स अनुभव किया कि जिन हिन्दुओं को काफिर कहा जाता है उनम बहुत सी बातें ग्राह्य हैं।

यदि अकबर पढ़ा लिखा और विद्वान् होता तो अपने विचारो को विवेक की शान पर चढ़ा कर शास्त्रीय रूप दे देता और एक नये वाद या सिद्धान्त का प्रचारक बन जाता। परन्तु जहाँ एक ओर वह पढा लिखा नहीं था वहाँ साथ ही वह एक स्वय निर्मित विशाल साम्राज्य का शक्तिशाली शासक भी था। उसने जीवन मे प्राय जिधर दृष्टि उठाई उधर विजयी हुआ। प्राय इसलिये कि एक महाराणा प्रताप को वह न जीत सका और इससे उसके हृदय मे हिन्दुओ के प्रति आदर का भाव और भी अधिक बढ़ गया। फलत उसके मन म उस समय के प्रचलित इस्लाम के प्रति बहुत गहरी प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई जो 'दीने इलाही' के रूप म प्रकट हुई।

इस अध्याय म 'दीने इलाही' की विस्तृत व्याख्या करने के लिए न स्थान है और न आवश्यकता है। सक्षेप म इतना ही लिखना पर्याप्त है कि दीने इलाही के घोषणा-पत्र में यह कहा गया था कि हिंदुस्तान अब एक ऐसा लौकिक राज्य हो गया है जिसमे हर सम्प्रदाय और विचार के लोग एकत्र हो गये हैं। इस कारण आवश्यक है कि यहाँ युक्तिसगत और उदारतापूर्ण नीति से काम लिया जाय। इस काय को सम्पन्न करने के लिये धर्म की उदार व्याख्या आवश्यक है जिसके करने का अधिकार बादशाह ने उलमाओ से छीनकर स्वयं ले लिया है। 'अल्लाहो अकबर' इस उक्ति मे जो अकबर शब्द है वह मूलरूप मे परमात्मा का विशेषण है परन्तु नये सम्प्रदाय के व्याख्याकारो ने उसे यह रूप दे दिया कि अल्लाह और ईमान का सबसे बड़ा जीवित व्याख्याकार अकबर ही है। फतेहपुरी मस्जिद में अपने नाम का खुतबा अकबर ने स्वय पढ़कर सुनाया।

अकबर का 'दीने इलाही' उसके जीवन-काल म भी बहुत परिमित दायरे म फैल सका और अकबर की मृत्यु के पश्चात् तो वह सर्वथा समाप्त हो गया। ससार को उसका पता भी न चलता यदि अबुलफजल अपने अकबरनामे मे और कुछ अन्य मुसलमान लेखक अपने आलोचनात्मक ग्रन्थो मे उसकी चर्चा न करते। अकबर ने भी लगभग वही कार्य

किया जिसका उद्योग कबीर और नानक ने किया था। सिद्धान्त के व्यावहारिक प्रचार में उन भक्तों को जितनी सफलता मिली अकबर को उतनी भी नहीं मिली क्योंकि 'दीने इलाही' पन्थ के रूप में जीवित न रह सका। इसका मुख्य कारण यह था कि अकबर की उदारतापूर्ण धार्मिक भावनायें बहुत कुछ राजनीतिक कारणों से उत्पन्न हुई थीं और दीने इलाही का मुख्य आचार्य बनकर अकबर ने उन्हें जो राजनीतिक रूप दे दिया उससे उन भावनाओं को सांस्कृतिक दृष्टि से कोई स्थायी रूप न मिल सका। अकबर और उसका 'दीने इलाही' अन्य मरणधर्मा वस्तुओं की तरह काल के गाल में विलीन हो गये तो भी अपने समय के इतिहास में इतना गहरा चरण चिह्न अवश्य छोड़ गये कि आगामी ६० वर्षों तक मुगलों की सल्तनत में धार्मिक उदारता की बू विद्यमान रही। धार्मिक उदारता के अवशिष्ट अंशों का ही प्रभाव था कि शासकों की अनेक अयोग्यताओं के होते हुए भी ६० वर्षों तक मुगल साम्राज्य की प्रगति आगे ही आगे की ओर रही। उन ६० वर्षों में भी ऊपर की सतह के नीचे चुपचाप भारत में विद्यमान दो संस्कृतियों का मिश्रण जारी रहा।

बीसवाँ अध्याय

उग्र प्रतिक्रिया

अकबर का 'दीने इलाही' उसके साथ ही समाप्त हो गया, परन्तु उसका भारत की राजनीतिक और सांस्कृतिक दशा पर पड़ा हुआ प्रभाव चिरकाल तक चलता रहा, इधर हिन्दू सन्तों के समष्टिवादी उपदेशों और उधर अकबर की उदार धार्मिक नीति, दोनों ने मिलकर देश में एक ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी, जो पारस्परिक विरोध भावना के प्रतिकूल थी। उसने हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे के समीप लाने का काम किया, उस सान्निध्य का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि समाज के सभी अंगों में समन्वय और मिश्रण की प्रवृत्ति जागृत हो गई। अकबर स्वयं ब्रजभाषा में कविता करता था, और उसके समय के अनेक अन्य मुसलमान कवियों ने भी हिन्दी में कवितायें की हैं। उधर मुगलकालीन वास्तुकला और चित्रकला में भारतीयता की झलक स्पष्ट है। उस झलक का प्रवेश अकबर के समय से ही हुआ। अकबर के समय में संगीत का प्रमुख आचार्य तानसेन हुआ, जिसने दोनों प्रकार के संगीतों को न केवल मिश्रित किया, नयी राग रागिनियों की रचना भी की। अकबर स्वयं पढ़ा-लिखा नहीं था, तो भी अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न होने के कारण समाज के प्रत्येक अंग पर उसका प्रभाव पड़ा। जैसे उसके दरबार में फैजी और अबुलफज़ल के साथ-साथ राजा बीरबल, राजा भगवानदास, राजा मानसिंह और राजा टोडरमल समान आसनों पर बैठते थे उसी प्रकार देश के प्रत्येक भाग में और जीवन के प्रत्येक पहलू में दोनों संस्कृतियाँ पास-पास बैठने लगीं। समीपता बढ़ने के कारण एक दूसरे पर प्रभाव डालना और प्रभाव लेना आवश्यक हो जाता है और मुगलकाल में यह प्रक्रिया लगभग १०० साल तक जारी रही।

अकबर के पीछे जहाँगीर गद्दी पर बठा। वह अकबर का भाँति असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न नहीं था। उसम किसी नई नीति के बनाने या किसी बनी हुई नीति का परित्याग करने की शक्ति नहीं थी वह बहुत कुछ अकबर की बनाई लीक पर ही चलता रहा। वह स्वय राज पूतनी का लडका था। कट्टर मुसलमान होते हुए भी उसम धर्मान्धता नहीं थी। उसके समय में भी सस्कृतियो के मिश्रण की प्रक्रिया जारी रही। उस समय वह क्रिया अकबर-काल की तरह इच्छापूवक या यत्नपूवक नहीं चल रही थी। जसे घडी का पैंडुलम एक बार हिलाया जाकर स्वाभाविक गति से तब तक चलता रहता है जब तक उसे हाथ से न रोक दिया जाय या स्प्रिंग की दी गई शक्ति न नष्ट हो जाय उसी प्रकार समाज म सास्कृतिक मिश्रण की जो प्रवत्ति उत्पन्न हुई थी वह जहाँगीर और उसके पुत्र शाहजहाँ के समय म भी पूव प्रदत्त शक्ति के प्रभाव से अना यास चलती रही। शाहजहाँ मे जहाँगीर की अपेक्षा कट्टरपन अधिक था। उसने कई अवसरा पर हिन्दुओ के मन्दिरा और मूर्तिया को तुडवाया। बनारस के जिले म उसकी आज्ञा से ७६ मन्दिर नष्ट किय गय। ओरछा का विशाल मन्दिर भी उसके आदेश स ही तोडा गया। उसने यह आदेश भी प्रचारित किया था कि कोई हिन्दू मुसलमान स्त्री स विवाह न कर सके यदि काई हिन्दू मुसलमान स्त्री को अपन पास रखना चाहे तो उसे मुसलमान हो जाना चाहिए अथवा स्त्री छीन ली जायगी। यह सब कुछ होते हुए भी शाहजहाँ ने अपन राज्यकाल म सामान्य रूप स हिन्दुओ पर अत्याचार नहीं किय इसके दोनों कारण हो सकते हैं। सम्भव है उसका हृदय अत्यधिक सकीण न हो अथवा विलासिता की ओर झुका रहने के कारण वह योजनापूवक भारी दमन करने की सामर्थ्य ही न रखता हो। कुछ भी हो उसके समय म भी हिन्दुओं और मुसलमानो के सामीप्य की प्रवत्ति जारी रही उसम कोई विशेष रुकावट नहीं आई।

औरगजेब १६५८ म दिल्ली के तख्त पर बठा। उससे पूव वह अपन सब भाइयो को समाप्त करके पिता को कैद कर चुका था। वह समय

मुगल साम्राज्य के जीवन में पूरे यौवन का था देश में शान्ति थी और समृद्धि थी। राज्यकोष भरा हुआ था और प्रजा भी बहुत कुछ निर्भयता में अपने कारोबार में लगी हुई थी। यों राजधर्म तो इस्लाम ही था परन्तु सल्तनत के हिन्दू निवासियों पर समूहरूप से अत्याचार नहीं होते थे। फलत हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति के मिश्रण से धीरे-धीरे एक मिश्रित संस्कृति जिसे हम हिन्दुस्तानी संस्कृति या उर्दू संस्कृति कह सकते हैं बढ़ी जा रही थी। मुसलमान हिन्दी पढ़ने और बोलने लगे थे और हिन्दू फारसी का अध्ययन करते थे। भक्तों और औलियाओं के कारण और हिन्दू भक्त और मुसलमान पीर इकट्ठे होकर एक-सी विचारधाराओं में स्नान करते थे। सरकारी नौकरियों में और सेनाओं में दोनों धर्मों के अनुयायी मिलते-जुलते और एक-दूसरे से प्रभावित होते थे। इस प्रकार अकबर की उदार नीति के फलस्वरूप एक मिश्रित संस्कृति का आविर्भाव हो रहा था।

यहाँ एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है। जब और जहाँ विजेता जाति अपने उदार व्यवहार द्वारा विजित जाति के दल से अपने प्रति घृणा या द्वेष के भावों को दूर कर देती है या शिथिल कर देती है तब और वहाँ राजनीतिक दासता की कटुता नष्ट होने लगती है और विजित जाति भेदभाव को भुलाकर शासकों को अपनाने लगती है। अकबर और उसके दो उत्तराधिकारियों के समय में यही हुआ। सांस्कृतिक संघर्ष के कम हो जाने से राजनीतिक संघर्ष भी हल्के हो गये। फलत इन तीन मुगल बादशाहों के राज्यकाल को भारत पर मुस्लिम प्रभुत्व का मध्याह्न काल कह सकते हैं।

औरंगजेब के राज्यारोहण के साथ परिस्थिति में परिवर्तन होना आरम्भ हुआ। औरंगजेब का बड़ा भाई दाराशिकोह धार्मिक विचारों की दृष्टि से अकबर का उत्तराधिकारी बनने के योग्य था। अकबर ने अथर्ववेद महाभारत के कुछ भाग और लीलावती का अनुवाद फारसी में करवाया था। दाराशिकोह का संस्कृत भाषा और हिन्दू तत्वज्ञान से

प्रेम और भी अधिक गहरा था। उसने उपनिषद्, भगवद्गीता और योगवशिष्ठ से अनुवाद करवाये और हिन्दू धर्म के ग्रन्थों के सम्बन्ध में स्वयं भी एक ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया। संस्कृत का प्रसिद्ध एवं पंडितराज जगन्नाथदास का सभा का ही अन्यतम सदस्य था। यदि शाहजहाँ के पश्चात् दाराशिकोह राजगद्दी पर बैठता तो भारत के इतिहास का रूप दूसरा ही होता परन्तु दाराशिकोह अकबर की तरह उदार हृदय रखता हुआ भी उसकी तरह दूरदर्शी और चतुर नहीं था। समय आने पर भी वह औरंगजेब की रोकथाम न कर सका। दाराशिकोह की पराजय और औरंगजेब की सफलता ने भारत के भावी इतिहास की धारा को ही बदल दिया।

औरंगजेब बचपन से ही अनुदार और कट्टर व्यक्ति था। संकीर्ण हृदय मुल्लाओं के संग ने उस पर और भी गहरा रंग चढ़ा दिया। जब शाहजहाँ की निर्बलता के कारण उसके पुत्रों में गद्दी के लिये संघर्ष आरम्भ हुआ तो राजनीतिक आवश्यकताओं ने औरंगजेब के कट्टरपन को धर्मान्धता के रूप में परिणत कर दिया क्योंकि दाराशिकोह के विरुद्ध उसके पास सबसे प्रबल युक्ति यही थी कि वह काफिरों का पक्षपाती है। दाराशिकोह का संस्कृत प्रेम मुसलमान मौलवियों और उनके अनुयायियों की दृष्टि से घोर अपराध बन गया जिससे प्रभावित होकर अधिकांश मुसलमान सिपाही और उनके मुखिया औरंगजेब के समर्थक बन गये। इस प्रकार राजनीतिक परिस्थितियों ने औरंगजेब के कट्टरपन को दस गुना करके भयंकर रूप में परिणत कर दिया।

औरंगजेब ने अपने लम्बे शासन-काल में जिस हिन्दू विरोधिनी नीति से काम लिया उसका मुगल वंश के भविष्य पर तो गहरा असर पड़ा ही भारत के इतिहास की धारा के दिशा-परिवर्तन में भी पर्याप्त सहायता मिली। औरंगजेब ने हिन्दुओं के दमन की दृष्टि से जो काम किये उन सब का विस्तृत वर्णन करने के लिये न इस अध्याय में स्थान है और न आवश्यकता है। संक्षेप में इतना ही लिखना पर्याप्त है कि राज्य के

प्रारम्भ काल से ही उसने अकबर की धार्मिक उदारता की नीति का परित्याग करके हिन्दुओं का दमन आरम्भ कर दिया था। उसका सबसे अधिक अदूरदर्शितापूर्ण कार्य जजिया कर का फिर से विनियोग था। अकबर ने जजिया कर को हटा कर देश की बहुसंख्यक प्रजा के हृदयों को जीत लिया था। औरंगज़ेब ने उसे फिर से लगाकर प्रजा को बेचैन और असन्तुष्ट कर दिया। जब राजधानी में बहुत से हिन्दू इकट्ठे होकर बादशाह के सामने अपनी फर्याद करने के लिये उपस्थित हुए, तो बादशाह ने अपने महावत को हुक्म दिया कि उनके सिरों पर से हाथी को गुज़ार दो। इस प्रकार हिन्दुओं के हृदयों का दमन करके औरंगज़ेब ने अपनी सल्तनत को दृढ़ करने की चेष्टा की। परिणाम उल्टा ही निकला। ऐसे दमन से शासन की दृढ़ता तो क्या होनी थी, मुग़ल साम्राज्य के सबसे दृढ़ स्तम्भ राजपूत अत्यन्त रुष्ट हो गये और साम्राज्य के अन्य भागों में भी विद्रोह की भावना जागृत हो गई।

औरंगज़ेब के हिन्दू विरोधी कारनामों की सूची बहुत लम्बी है। मन्दिर तोड़े गये, हिन्दुओं को ज़बरदस्ती डरा-धमकाकर मुसलमान बनाया गया और बड़े विश्वाससम्पन्न राजपूत राजाओं को अपमानित किया गया। ये तो उस नीति के स्वयम्भाव फल थे, जिसका व्यापक रूप औरंगज़ेब के शासन का कट्टर सुन्नीपन था। यह सुन्नीपन केवल हिन्दुओं तक ही परिमित नहीं रहा। उसका हिन्दुओं के दायरे से बाहर भी प्रभाव पड़ता रहा। शिया मुसलमान औरंगज़ेब के राज्य में तिरस्कार के योग्य समझे जाते थे। बादशाह का इस्लामी जोश यहाँ तक बढ़ा कि उसने राजधानी में संगीत की भी मनाही कर दी।

जो शासक केवल दमन द्वारा प्रजा के असन्तोष को दूर करने का यत्न करता है वह बड़े संकट में पड़ जाता है। यदि दमन के शिकंजे को कम करता है तो असन्तोष के बढ़ने की आशंका हो जाती है, और यदि दमन को जारी रखता है तो विद्रोह का खड़ा होना अवश्यम्भावी हो जाता है। फलतः दमनकारी शासक मानो भाग्य की रस्सी से बँधा हुआ

नाश का साइ का भार लिया चला जाता है। वह जितना ही अधिक दमन करता है, असन्तोष उतना ही उग्र रूप धारण करता है जिसका अन्तिम परिणाम यह होता है कि उसके राज्य की जड़ें हिल जाती हैं।

औरंगजेब की संकीर्ण नीति ने अकबर के लिख हुए उज्ज्वल अक्षरों पर मानो हड़ताल फेर दी। उनके शासन के लगभग ५० वर्षों में भारतीय संस्कृति का वह मिश्रित रूप जो अकबर की उदार नीति के प्रभाव से जन्म ले रहा था बहुत कुछ लुप्त हो गया। हर दिशा में विरोध और उससे उत्पन्न होने वाली तबाही के चिह्न दिखाई देने लगे। हिन्दी साहित्य की प्रगति तो रुक ही गई फारसी का साहित्य-निर्माण भी अवरुद्ध हो गया। जो थोड़ा-बहुत इमारतें बनी उनमें से हिन्दूपन के चिह्न यत्नपूर्वक निकाल दिये गये। संगीत का तो गला ही घोंट दिया गया। हम यह कहें तो अनुचित न होगा कि औरंगजेब के राज्यकाल में न केवल हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के मिश्रण का कार्य बन्द हो गया सामान्य रूप से संस्कृति का प्रवाह ही रुक गया। औरंगजेब ने अपनी संकीर्ण धर्म-नीति की बलिवेदी पर दोनों संस्कृतियों की बलि दान कर दिया।

इक्कीसवाँ अध्याय

हिन्दू संस्कृति का प्रत्याक्रमण

मुसलमानो के भारत पर शासन करने वाले प्रारम्भिक पाँच राजवशो म सबसे अधिक जाबिर शासक अलाउद्दीन खिलजी था। वह जितना ही बहादुर था उतना ही पक्षपातपूर्ण था। वह हिन्दुओं से तीव्र घृणा करता था और उनके दमन को अपना मजहबी फर्ज समझता था। वह दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने उत्तरी भारत को जीतकर राज्य की सीमाओ को दक्षिण मे फैलाने का उपक्रम किया। उसके सेनापति मलिक काफूर ने और स्वय सुलतान न दक्षिण के हिन्दू राज्यो पर कई आक्रमण करक विजय प्राप्त की। उन विजयों की एक विशेषता यह थी कि उनम हिन्दुओ पर और उनके मन्दिरो और पूजा-स्थानों पर खुले आघात किये गये।

अलाउद्दीन के पीछे तुगलक वश क शासको ने दक्षिण भारत पर प्रभुत्व जमाने की चेष्टा जारी रखी।

उस समय तक भारत के उत्तर और दक्षिण भागों म बहुत भेद था। उत्तरी भारत पर मुसलमान पूरी तरह छा गये थे। विरोधी आक्रमणो से आहत होकर हिन्दू शक्ति मानो अपने दुग मे दुबक गई थी। उधर दक्षिण में इस्लाम का खुला प्रवेश नही हुआ था और न हिन्दू भावना की पीठ ही टूटी थी। यही कारण था कि जब इस्लाम की सेनाओं न दक्षिण म घुसने की चेष्टा की तो दो बहुत ही उग्र प्रतिक्रियायें उत्पन्न हुईं। उनमे स पहली प्रतिक्रिया विजय नगर क राज्य क रूप म प्रकट हुई।

विजयनगर का राज्य—विजयनगर राज्य की स्थापना हरिराय और बुक्का नाम क दो वीर और साहसी भाइयो न १३३६ ई० म की। उस समय दक्षिण म मुसलमान आक्रान्ता पहुँच चुके थे दोनो भाइयो ने

लड़कर मुसलमानों को दक्षिण से निकाल दिया और विद्यारण्य मुनि के निर्देश में चलते हुए विजयनगर राज्य की स्थापना की।

विजयनगर को दोनों भाइयों और उनके उत्तराधिकारियों ने कुछ ही वर्षों में समृद्धि की चरम-सीमा तक पहुँचा दिया। मुसलमानों की ओर से उसे नष्ट करने का प्रयत्न निरन्तर जारी रहा परन्तु लगभग २० वर्षों तक विजयनगर का स्वाधीन-ध्वज तुंगभद्रा नदी के तट पर सिर उठाये खड़ा रहा। उसका पतन तब हुआ जब विजयनगर के रक्षकों में फूट पड़ गई और उसके विरुद्ध अहमदनगर गोलकुण्डा और बीदर की तीनों पड़ोसी मुसलमान रियासतें एक हो गई। तीनों रियासतों की सम्मिलित सेनाओं ने विजयनगर के राजा रामराय पर आक्रमण कर दिया। रामराय युद्ध में बन्दी बन गया उसकी सेनायें भाग निकलीं और विजयनगर का धन-धान्य और रत्नों से भरा हुआ नगर लूट लिया गया।

यह तो हुई विजयनगर राज्य के दो सौ वर्ष के राजनीतिक जीवन की कहानी। यदि हम उस जीवन के सांस्कृतिक पहलू पर दृष्टि डालें तो वह हमें बहुत ही समृद्ध दिखाई देता है। उत्तरीय भारत का इतिहास उन सदियों में बहुत कुछ अन्धकारपूर्ण हो या। आगन्तुक संस्कृति का प्रतिरोध करना छोड़ कर प्राचीन भारतीय संस्कृति भक्ति और प्रेमरस की कविताओं की गुफाओं में घूमने का प्रयत्न कर रही थी। उस समय विजयनगर रात्रि के अन्धकारावृत आकाश में दीपक की तरह चमकता दिखाई देता है। साहित्य चित्र-कला भवन-निर्माण-कला तथा धार्मिक क्षेत्र में विजयनगर के जीवन की वे दो सदियाँ खूब समृद्ध हैं। माधव तथा सायण ने वेदों पर भाष्य किये संस्कृत दर्शनों पर पुस्तकें लिखी गईं। संस्कृत के बहुत से उत्तरकालीन काव्य उसी समय में लिखे गये। शुद्धाद्वैत और उसके पश्चात् विशिष्टाद्वैत का बहुत सा पोषक साहित्य उन्हीं दो शताब्दियों की उपज है।

उन दो सदियों की वास्तुकला के शानदार नमूने सारे दक्षिण में मन्दिरों

और राजभवनों म भरे पडे हैं। पीछे से आने वाले जोशीले मुसलमानो द्वारा तोड फोड के हो जाने पर भी विजयनगर की भवन निर्माण-कला आज तक उस काल की विभूति को प्रकट कर रही है।

सामान्य रूप से विजयनगर का गौरव उन विदेशी यात्रियों के दिये विवरणों से भासित होता है जो उस समय दक्षिण म आये।

विजयनगर के यशस्वी राजा देवराय द्वितीय के राज्यकाल मे इटली के मन्त्री निकोला कोण्टी ने विजयनगर शहर और राज्य के सम्बन्ध म बहुत कुछ लिखा है। उसका कुछ अंश निम्नलिखित है—

'बिजगालिया (विजयनगर) एक बडा शहर है जो ऊँचे पहाड़ों पर बसा हुआ है। शहर का घेरा ६ मील का है। इसकी दीवारो की ऊँचाई पहाडी को छूती है, और निचला हिस्सा पहाड की तराई तक पहुँचता है। इसकी आबादी ६ हजार की कही जाती है।

एक और यात्री ईरान से आया जिसका नाम अब्दुर्रज्जाक था। वह १४४८ मे विजयनगर म आया। उसने लिखा है—

विजयनगर शहर ऐसा है कि उसकी उपमा पृथ्वी पर न देखी गई है और न सुनी गई है　　बाजार मे प्रत्येक वस्तु की दुकानें साथ-साथ हैं। जौहरी लोग खुले बाजार मे मोती हीरा मूगा और कीमती वस्तुएँ बेचते हैं। इस नगर म और राजा के महलों मे सुन्दर और कोमल पत्थरों की बनी हुई पानी की नालियाँ और नहरें बनी हुई हैं।

विजयनगर की यह विभूति लगभग २०० वर्षों तक रही। इस समय में वह प्राचीन हिन्दू सस्कृति के जागरण का केन्द्र-स्थान बना रहा। धर्म साहित्य और कलाओ के विकास के साथ साथ राज्य-शक्ति की भी वृद्धि हुई।

परन्तु अकेला विजयनगर मुसलमान शक्ति की उमडती हुई बाढ को कब तक रोकता। अन्त म तीन पड़ोसी मुसलमान शक्तियों ने मिलकर उसे परास्त कर दिया और विजयनगर की विभूति केवल इतिहास के पृष्ठों पर लिखी रह गई।

बात यह थी कि मुसलमान न केवल भारत में आ गये थे यहाँ के शासक बनकर भी जम गये थे। विजयनगर की संस्कृति पर इन दोनों घटनाओं का कोई प्रभाव नहीं था। यही कारण था कि विजयनगर की प्रतिक्रिया केवल दक्षिण के एक भाग तक परिमित रही और सम्पूर्ण देश को प्रभावित न कर सकी।

महाराष्ट्र में जो जागृति उत्पन्न हुई उस पर उपर्युक्त दोनों ऐतिहासिक घटनाओं का असर था। वह सुधारात्मक थी और प्रतिरोधात्मक भी। उसमें अपने अन्दर आये हुए दोषों को दूर करने की भावना भी थी और इस्लाम के राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व को नष्ट करने की भावना भी। इन दो कारणों ने दक्षिण में उत्पन्न हुई हिन्दू संस्कृति की इस दूसरी प्रतिक्रिया को बहुत विस्तीर्ण और प्रभावशाली बना दिया।

महाराष्ट्र में १६वीं शताब्दी में जो क्रान्ति हुई उसके मानसिक सामाजिक और साहित्यिक—ये तीन भाग थे विशेष रूप से समर्थ गुरु रामदास ने अपने दासबोध में जिस धर्म का उपदेश दिया उसका बहुत व्यापक रूप था। उसमें ज्ञान भी था और कर्म भी। शिवाजी हिन्दू धर्म और हिन्दू गौरव के उद्धार के लिये खड्ग धारण करके रणक्षेत्र में उतरते उससे पूर्व ही भक्तों और कवियों ने महाराष्ट्र में सांस्कृतिक जागृति का प्रकाश फैला दिया था।

इस सांस्कृतिक जागृति की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें सुधार और प्रतिरोध की दोनों भावनायें विद्यमान थीं। वे राष्ट्र में आई हुई अनुदारता का सुधार करने के साथ-साथ मुस्लिम संस्कृति के प्रतिरोध का भी यत्न करती थीं।

जिन कारणों से यह सांस्कृतिक जागृति उत्पन्न हुई उन्हीं ने शिवाजी को भी तयार किया। शिवाजी भी उस गहरी और व्यापिनी सांस्कृतिक प्रतिक्रिया के स्थूल रूप थे।

समर्थ गुरु श्री रामदास के दासबोध और अन्य भक्तों की वाणियों ने जिस जागृति की अग्नि को सुलगाया, और शिवाजी के बाहुबल ने जिसे

ज्वाला का रूप दिया औरंगजेब की नीति ने वायु बनकर उसे शीघ्र ही देश भर में फैला दिया और जो अग्नि १६वीं शताब्दी के अन्त में महाराष्ट्र में चिनगारी की भाँति दिखाई दी थी वह कालान्तर में देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई दावाग्नि के समान जाज्वल्यमान दृष्टिगोचर होने लगी। वह बढ़ती हुई इस्लामी संस्कृति के विरोध में हिन्दू संस्कृति की जबदस्त प्रतिक्रिया थी।

यह प्रत्याक्रमण दक्षिण तक ही परिमित न रहा। पंजाब में वह गुरु गोविन्दसिंह और भाई बन्दा के रूप में और मध्य भारत में छत्रसाल के रूप में प्रगट हुआ। उसने गुरु नानक के प्रेमप्रधान धर्म को उग्र योद्धा का रूप दे दिया।

वाईसवाँ अध्याय

उर्दू का जन्म

उर्दू एक भाषा का नाम है परन्तु मैं उसका प्रयोग संस्कृति के लिये कर रहा हूँ। इसका कारण समझाने के लिये छोटी सी भूमिका की आवश्यकता है।

पहले हम यह देखना होगा कि उर्दू नाम की भाषा का जन्म कैसे हुआ और वह किनकी भाषा बनी? जब हम यह जान लेंगे तो हम स्वयं विदित हो जायगा कि उर्दू केवल एक भाषा के रूप मे उत्तरी भारत में नहीं आई वह अपने साथ लगी हुई एक संस्कृति को भी घसीट कर लाई जो उत्तर मुगलकाल म उत्तरीय भारत म फैल गई।

उर्दूभाषा के जन्म क सम्बन्ध मे दो कल्पनाएँ हैं। एक कल्पना यह है कि उसका जन्म मुगल बादशाहों क लश्करो और बाजारों म हुआ सदियों तक भारत क शासन की भाषा फारसी और जनता की भाषा हिन्दी रही जिसका साहित्यिक रूप उस समय ब्रजभाषा था। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि निरन्तर सम्पर्क क कारण सर्वसाधारण हिन्दू मुसलमानों ने अपने मिलन के स्थानों पर एक खिचड़ी बोली का प्रयोग आरम्भ कर दिया जो कालान्तर म 'उर्दू' कहलाई। आमतौर पर उर्दू के उद्भव के सम्बन्ध म इसी कल्पना को माना जाता है।

दूसरी ओर कुछ विचारक इस कल्पना को भ्रान्तिमूलक मानते हैं। उनका कहना है कि उर्दू का जन्म छावनियो या बाजारो मे नहीं हुआ अपितु दिल्ली के लाल किले म हुआ है। उर्दू के कई प्रसिद्ध मुसलमान लेखकों ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि उर्दू जुबान शाहजहानाबाद के लाल किले के कारखाने म घड़ी गई और यहीं स उसका फरोग हुआ। इस कल्पना का खण्डन करने वाल लोगों का कहना है कि वस्तुत

उर्दू का विकास तो हुआ ही दक्षिण में है। उनका दावा है कि शाहजहाँ के पीछे जब औरंगजेब ने दिल्ली में कलाओं का ब्लैक आउट कर दिया तब दक्षिण के बीजापुर अहमदनगर और गोलकुण्डा आदि राज्यों में ही उर्दू की पालना हुई। इस बात का आभास उर्दू के एक महाकवि की उस उक्ति से मिलता है जिसमें उसने कहा है कि यद्यपि दक्षिण में साहित्यिकों के अधिक सम्मानित होने की बात सुनी जाती है तो भी 'कौन जाय जौक पर दिल्ली की गलियाँ छोड़कर' इससे प्रतीत होता है उत्तरकालीन मुगल शासकों के समय में उर्दू साहित्य का केन्द्र दिल्ली नहीं था दक्षिण था।

इन अनेक मतभेदों की बहस में न पड़कर यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि उर्दू भाषा का जन्म उन्हीं स्थानों पर हुआ जहाँ सर्वसाधारण हिन्दू और मुसलमान मिलने और हाकिम महकूम के भेद भाव को छोड़कर परस्पर वार्तालाप करते थे। वह स्थान छावनी बाजार और ग्राम आदि अनेक थे। ब्रजभाषा जिसे उस समय के अनेक मुसलमान लेखकों ने ग्वालियरी भाषा का नाम दिया है के साथ फारसी का मिश्रण हुआ। शरीर का अस्थि-पंजर ब्रजभाषा से आया और उसमें माँस और मज्जा का समावेश फारसी शब्दों से हुआ। इस मिश्रण का परिणाम "उर्दू" भाषा के रूप में प्रगट हुआ।

वह भाषा नीचे की सतह से होकर लाल किले में आ पहुँची। वहाँ के उलमाओं और सरदारों ने उस खिचड़ी भाषा का परिष्कार किया और वह परिष्कार खूब हुआ। इतना जोरदार परिष्कार हुआ कि उसके सामने छावनी और बाजार की उर्दू बिलकुल मन्द पड़ गई। कालान्तर में असली उर्दू वही समझी जाने लगी थी जिस पर दिल्ली और कुछ समय पीछे लखनऊ की छाप हो। जनता की भाषा को उस समय के उर्दू के कई विद्वान् लेखक 'उर्दू' के नाम से पुकारते थे। इस प्रसंग में उन्नीसवीं सदी के मुसलमान लेखक के अवतरण बहुत मनोरंजक हैं। वह लिखता है—

हम अपनी जुबान को मरहठी बाजी आवमीबाजी की जबान घांदिया के गण्ड जाहिल क्यालबन्दी के कमाल टेसू के राज मानी बग्र या मसफान का मजमूआ बनाना कभी नहीं चाहते और न आजादान उर्दू को ही पसन्द करते हैं जो हिन्दुस्तान के ईसाइया अनमुस्लिम भाइयों माजा विलायत साहिब लोगो खानसामाओं कम्पवालो और छावनियों के सक्त वेमझे बाशिन्दों ने अख्तियार कर ली है। हमारे जरीफुल्तबा दास्तों ने मजाक म इसका नाम उड़दू रख दिया है।

इस शिकायत भरे लखो के लिखने वाले सज्जन न जिसे उड़दू कहा है असल म उर्दू का जन्म उसी ही एक भाषा से हुआ था जिसे लाल किले के कारीगरो ने शान पर चढाकर चमकाया और एक साहित्यिक भाषा बनाया था।

इससे किसी को भी इन्कार नही हो सकता कि हिन्दुओं और मुसल मानो के निरन्तर सम्पर्क स उत्पन्न हुई उर्दू जबान का भारत के सांस्कृतिक विकास के इतिहास में बहुत विशिष्ट स्थान है। यद्यपि उसका जन्म छावनियो और बाजारो मे हुआ तो भी शीघ्र ही उसे सल्तनत के सचालकों ने अपना लिया। उसका जन्म उत्तरी भारत के निचले स्तर म हुआ था परन्तु राजाश्रय पाकर वह दक्षिण तक फैल गई यहाँ तक कि जहाँ मुसलमानों की हुकूमत थी उससे आगे बढकर वह भाषा फुट कर रूप म मराठा साम्राज्य जैसे ठेठ हिन्दू राज्यो म भी जा पहुँची। उस समय की मराठी भाषा म शासन सम्बन्धी बहुत सी परिभाषायें उर्दू फारसी की समाविष्ट हो गई थी। उर्दू का एक प्रचलित नाम हिन्दवी भी था।

यदि हम उत्तरकालीन मुगलकाल की सामाजिक दशा का गम्भीरता से अनुशीलन करें तो हम इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि उर्दू भाषा केवल कोरी भाषा ही नहीं थी वह एक सस्कृति का प्रकट रूप थी। उस समय की उत्तरी भारत की भाषा को यदि हम उर्दू भाषा कहें तो हम यह भी कहना पड़ेगा कि उस समय एक ऐसी सस्कृति भी

उत्पन्न हो गई थी जिसे उर्दू संस्कृति के नाम से निर्दिष्ट किया जा सकता है। वह संस्कृति भी सर्वसाधारण हिन्दुओं और मुसलमानों के सम्पर्क से उत्पन्न हुई। उसका भी लाल किले में और उसके पश्चात् लखनऊ तथा अन्य मुसलमान नवाबों की राजधानियों में परिष्कार हुआ। और वह तब तक बढ़ती रही जब तक पश्चिम से आई हुई नई सांस्कृतिक बाढ़ ने उसे जबरदस्त टक्कर नहीं लगाई।

उर्दू संस्कृति—उस उर्दू संस्कृति का जन्म कब हुआ?

हम देख आये हैं कि लगभग ४ सदियों के मुस्लिम शासन के पश्चात् हिन्दुओं और मुसलमानों में विचारों का थोड़ा-बहुत आदान प्रदान आरम्भ हो गया था। मुसलमानों में धर्म भेद के रहते भी भारतवासी होने की भावना उत्पन्न हो गई थी। वे स्थिर रूप से हिन्दुओं के पड़ोसी और हमसाया बनकर बस गये थे। विचारों के आदान प्रदान का प्रभाव यह हुआ कि दोनों ओर मिश्रित विचारधारायें प्रवाहित होने लगीं। हिन्दुओं के भक्त कवि तथा मुसलमानों के सूफी उस विचार-मिश्रण के परिणाम थे। विशेष बात यह थी कि कबीर जैसे भक्तों के शिष्यों में मुसलमानों की और सूफियों के मुरीदों में हिन्दुओं की संख्या पर्याप्त थी।

विचारों के संसार में जो मिश्रण आरम्भ हुआ उसे क्रियात्मक जीवन में लाने का यत्न अकबर ने किया। उसने जहाँ अपनी शासन-नीति का निर्माण साम्प्रदायिक भेदभाव को छोड़कर किया वहाँ साथ ही 'दीने इलाही" नाम से इस्लाम में एक नई विचारधारा को उत्पन्न करने का उपक्रम किया। दीन इलाही तो न चला परन्तु अपने पीछे एक चेतना छोड़ गया।

यदि औरङ्गजेब अकबर के किये पर हड़ताल फेरने के लिए कटिबद्ध ही न हो जाता तो सम्भवतः भारत की सांस्कृतिक और राजनीतिक अस्थिरता शीघ्र ही मिट जाती। परन्तु भारत को अभी अस्थिरता के दिन देखने थे। औरङ्गजेब ने अपनी धर्मान्धता से कुछ समय के लिए

सास्कृतिक सघर्ष को फिर ताजा कर दिया । परन्तु इसी बीच मे देश के कोने-कोने म कई रूप धारण करके हिन्दुत्व की प्रतिक्रिया जारी हो गई । महाराष्ट्र राजपूताना बुन्देलखड पजाब ग्रादि प्रदेशा म जो राजनीतिक क्रान्तियाँ उत्पन्न हुइ उनके स्थूल रूप भिन्न भिन्न थ परन्तु मौलिक रूप स वह सास्कृतिक प्रतिक्रिया की ही रूपान्तर थी ।

एक बार तो ऐसा प्रतीत हुम्रा कि जो राज्य क्रान्ति महाराष्ट्र से उठी है वह धीरे धीरे हिमालय स रामेश्वर तक छा जायगी परन्तु पानीपत के रणक्षेत्र न देश के इतिहास को फिर पल्टा दिया । मराठो की शक्ति को ग्रहमदशाह ग्रब्दाली की सनाग्रा ने एक जबदस्त धक्का देकर उत्तर से पीछ धकल दिया जिसस परिस्थिति फिर पहले की भाँति विषम हो गई । विषम इसलिय हा गई कि मुगल बादशाहा की शक्ति तो हिन्दू प्रतिक्रिया ग्रौर मुसलमान सरदारों क विद्रोहा के कारण क्षीण हा गई थी । ग्रब पानीपत की पराजय क कारण हिन्दू प्रतिक्रिया भी निर्बल हो गई । फलत हिन्दू ग्रौर मुसलमान दोना ही प्राय एक स्तर पर ग्रा गये । उनम शासक ग्रौर शासित की वसी उग्र भावना न रही जसी पहल थी । दोना कही शासक थे ग्रौर कही शासित । समतल पर ग्राकर दोना म ग्रादान प्रदान की प्रक्रिया फिर जारी हा गई जिसका फल 'उर्दू सस्कृति के रूप मे प्रकट हुग्रा ।

तेईसवाँ अध्याय

युग के अन्त मे भारत

जिस समय भारत की राजनीति म पट परिवतन हुआ अर्थात मुगल सम्राट का प्रभुत्व नष्ट हुआ और अग्रजो की सत्ता कायम हुई उस समय भारत के बडे भाग म उर्दू सस्कृति की हा मुख्यता थी। यहाँ कुछ विस्तार से यह बतलाना आवश्यक है कि भाषा के अतिरिक्त यह उर्दू सस्कति क्या और कसी थी जिसकी ओर मैं निर्देश कर रहा हूँ ?

जसे उर्दू भाषा हिदुओ और मुसलमानो के चिरकाल तक निरन्तर सम्पक स उत्पन्न हुई थी उसी प्रकार उर्दू सस्कति भी लगभग ६० वर्षों तक हिदुओं और मुसलमानो के निकट वास के कारण होने वाली क्रिया प्रतिक्रिया का परिणाम थी। हम देख आय हैं कि सस्कति समाज की सब प्रवृत्तियो और मनोवत्तियो का नाम है। चिरकाल तक एक दूसरे के पडोसी बनकर रहने से दोनो कभी जान-बूझकर और कभी अन जाने स प्रभावित हाते रहे जिसका फल यह हुआ कि अन्त में दानो एक एसी सस्कति के प्रभाव म आ गये जिसम दोनो के अच्छे-बुरे दोनो तरह के अश विद्यमान थे। अट्ठारहवी सदी के आरम्भ म मुगल साम्राज्य का क्षय आरम्भ हो चुका था और पश्चिम स आये हुए व्यापारी राजनीतिक क्षेत्र मे अपना पाँव बढ़ाने की तयारी कर रहे थे। उस समय जो सस्कृति उत्तरी तथा पूर्वी भारत के समाज म प्रधान रूप से विद्यमान थी वह हिन्दू सस्कृति और मुस्लिम सस्कृति के निष्कप का परिणाम थी।

मिश्रण का प्रभाव समाज के सभी अगों पर पडा था। सबसे पहले समाज के धार्मिक पहलू पर दृष्टि डालिये। देखने म दोना धर्म १८वी शताब्दी के मध्य भी स पृथक थे परन्तु उनमें स प्रत्येक पर एक दूसरे का असर बिलकुल स्पष्ट दिखाई दे रहा था। हिन्दुओं म तत्कालीन धम

गुरुओं के विचारों पर इस्लाम का प्रभाव असंदिग्ध रूप से दिखाई दे रहा है। कबीर, दादू और ऐसे ही दर्जनों भक्तों की वाणियाँ मिश्रित विचार धारा का परिणाम थी। हिन्दुत्व की जो प्रतिक्रियायें महाराष्ट्र तथा पंजाब मे उत्पन्न हुई उन पर भी मिश्रण का पर्याप्त प्रभाव था। महाराष्ट्र की सांस्कृतिक जागृति और सिख धर्म के अभ्युदय से हम जो एक उग्रता और सुधारोन्मुखता मिलती है वह इस्लाम के सम्पर्क से उत्पन्न हुई थी।

उधर इस्लाम पर हिन्दू धर्म का असर भी कम नहीं पड़ा। मुसलमानों में ऐसी बहुत सी बातें आ गईं जिनका कारण हिन्दू धर्म से सम्पर्क ही था। सूफी मत वेदान्त का रूपान्तर था। ब्रजभाषा की कविता और भक्ति धर्म का मुसलमान कवियों और विचारकों पर जो प्रभाव पड़ा उसकी हम इससे पूर्व चर्चा कर आये हैं। बादशाह अकबर स्वयं ब्रज भाषा में कविता किया करता था। रसखान आदि मुसलमान कवियों की भक्तिमयी कवितायें हिन्दी साहित्य की शोभा को बढ़ाने वाली हैं। दाराशिकोह को संस्कृत वाङमय से गहरा प्रेम था। उसकी प्रेरणा से उपनिषदों के तथा हिन्दुओं के अन्य धर्म ग्रन्थों के अनुवाद हुए, और मुसलमानों में उनका प्रचार हुआ। जिस समय भारतवासियों के मानसिक दुर्ग पर पाश्चात्य विचारों का आक्रमण हुआ उस समय यहाँ के दुर्ग की दीवारों में हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति का गहरा मिश्रण हो चुका था।

धर्म और साहित्य के क्षेत्र से भी अधिक गहरा मिश्रण सामाजिक क्षेत्र में हुआ था। प्रारम्भ में बहुत तीव्र भिन्नता होते हुए भी ६०० वर्षों के निरन्तर सम्पर्क के कारण दोनों सम्प्रदायों में बहुत सी समानतायें उत्पन्न हो गई थीं। बहुत से हिन्दू नर और नारी हिन्दू साधुओं के साथ-साथ मुसलमान फकीरों का सम्मान करते और मजारों की पूजा करते थे। मुसलमानों ने भी बहुत से रीति रिवाज हिन्दुओं से ले लिये थे। विशेषतः ग्रामों में भेदभाव बहुत कुछ नष्ट हो गया था। गाँव में यह साधारण बात हो गई थी कि दोनों एक-दूसरे के धार्मिक त्योहारों में

और ब्याह-शादियों में सम्मिलित हों और एक-दूसरे के विधि-विधान को मान्यता दें। अंग्रेजों के आने के कुछ समय पश्चात हिन्दुओं और मुसलमानों में विरोध का जो उग्र भावना उत्पन्न हो गई थी १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उसका अभाव-सा ही था। उस समय हिन्दुओं और मुसलमानों ने यह मान सा लिया था कि दोनों पड़ोसी-पड़ोसी हैं। फलत उनके बीच की सामाजिक दीवार बहुत ही पतली हो गई थी। कहीं-कहीं तो सर्वथा नष्ट हो गई थी। उस समय के वेश को देखिये। मुसलमान बादशाहों और उनसे लड़ने वाले हिन्दू राजाओं की वेशभूषा और दाढ़ी मूँछ के कट तक में समानता आ गई थी। शिवाजी के पिता शाहजी और किसी मुसलमान नवाब की तस्वीरों का मिलान करें तो रंग-ढंग से अधिक भिन्नता नहीं दिखाई देती। मुसलमान लोग दाढ़ी कटाने लगे थे और हिन्दू दाढ़ी रखने लगे थे। दोनों की पगड़ियों और अँगरखों का भेद भी बहुत कुछ नष्ट हो चला था। सारांश यह कि आन्तरिक परिवर्तनों की भाँति बाह्य परिवर्तनों ने भी हिन्दुओं और मुसलमानों की भिन्नता को बहुत कुछ हल्का करके एक ही साँचे में ढाल दिया था। दोनों के बनाव लगभग समान हो गये थे। दोनों की संस्कृति यदि सर्वथा एक नहीं हुई थी तो भी एक दूसरे के समानान्तर तो हो ही गई थी।

१८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब अंग्रेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में राज्य विस्तार की ओर कदम बढ़ाया तो उसे जिस भारतीय समाज से वास्ता पड़ा वह थोड़े से स्थानीय भेदों के होते हुए भी लगभग एक से सामाजिक और मानसिक स्तर में था। दक्षिण और उत्तर की सांस्कृतिक दशाओं में जो भेद था उसकी चर्चा हम कर आये हैं। यदि दक्षिण को अलग छोड़ दें तो हम कह सकते हैं कि भारत के लगभग तीन चौथाई भाग में ऐसी मिश्रित संस्कृति बन चुकी थी जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों का समान भाग हो गया था। उस मिश्रण की प्रक्रिया के चक्कर में आकर मुसलमान अपने चरित्र की कठोरता खो चुके थे और हिन्दू अपने रहन-सहन की विशुद्धता से हिल चुके थे मुसलमान

पीरों को पूजने लगे थे और हिन्दुओं में कठोर पर्दा-पद्धति जारी हो गई थी। उत्तर में मुगलकालीन उर्दू संस्कृति का उन्नततम रूप लखनऊ और दिल्ली में पाया जाता था। उस रूप में न तो हिन्दूकुश पर्वत को पार करके भारत को विजय करने वाले मुसलमान आक्रान्ताओं की कठोरता शेष थी और न सत्य और धर्म को प्राणों से अधिक मानने वाले हिन्दुओं की धर्मनिष्ठा के चिह्न थे। शिष्टता और शिष्टाचार में अत्यन्त परिष्कृत परन्तु अन्दर से अयथार्थतापूर्ण वह ऐसी संस्कृति थी जिसमें से शायद दोनों ही धर्मों के उत्कृष्ट अंग निकल गये थे और शेष रह गया था खोखला दिखावा जिसके भरोसे पर कोई जाति चिरकाल तक खड़ी नहीं रह सकती। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस नई उर्दू संस्कृति का प्रभाव उत्तरी भारत के कुछ भाग तक और दक्षिण की कुछ रियासतों तक ही परिमित था और वहाँ भी विशेष रूप से शहरी और राज्य से सम्बन्ध रखने वाले लोग ही उनसे प्रभावित थे। साधारण ग्रामों की प्रजा को उसने नहीं छुआ था। देश की लगभग ६५ फीसदी जनता अपनी उसी परम्परागत संस्कृति के प्रभाव में चलती रही जो देश के प्रायः सभी प्रान्तों में एक सी थी।

शिक्षित भारतवासी ऐसी दोगली संस्कृति के प्रभाव में आ चुके थे जब पश्चिम के सुशिक्षित कठोर और सुचतुर आक्रान्ताओं से उनका वास्ता पड़ा। दोगली संस्कृति की निर्बल दीवारें पाश्चात्य संस्कृति के जोरदार धक्कों का देर तक न सह सकीं और एक-एक करके भारत के सब प्रदेश पश्चिम की मनोवृत्तियों और विचारों के सामने तब तक झुकते गये जब तक फिर से विशुद्ध भारतीय संस्कृति ने अपना सिर नहीं उठाया।

चौबीसवाँ अध्याय

भारत मे पश्चिम का प्रवेश

राजनीतिक—भारत म जिस पश्चिम क साहसिक व्यक्ति ने पहले पहल जल्द म कदम रखा वह वास्कोडिगामा था जो एक बेड़े के साथ १४६८ ईस्वी में कालीकट म उतरा। उसके पीछे-पीछे पुर्तगाल की सामूहिक शक्ति आ पहुँची जिसके सहारे म पुर्तगाली लोग गोआ म अपना सैनिक और व्यापारिक अड्डा कायम करने म सफल हो गये।

लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक पुर्तगाल को भारत म अपना प्रभाव बढ़ाने का खुला अवसर मिला। उन्होंने व्यापार के साथ-साथ भारत म ईसाइमत प्रचार करने का भी यत्न किया और उस काम को पुष्टि देने के लिये बलात्कार और अत्याचार करने म भी कोई कसर नही छोड़ी।

१७वीं शताब्दी के आरम्भ म पुर्तगाल की शक्ति को चुनौती देता हुआ हालैण्ड का बेड़ा भी भारतीय समुद्र म आ पहुँचा। १ ४८ ई० म पुर्तगाल और हालैण्ड के सामुद्रिक बेड़ों का संघर्ष हुआ जिसम हालैण्ड की जीत हुई। गोआ दमन और दिउ के अतिरिक्त अन्य सब बस्तियाँ पुर्तगालवासियों के हाथ मे छूट गई।

पुर्तगाल का राजनीतिक बल डच लोगों ने तोड़ दिया परन्तु उसने भारत की भाषा और रहन-सहन पर जो प्रभाव डाला था वह चिरस्थायी हो गया। भारत को उनकी दी हुई कई चीजें हैं। भारतवासियों ने योरप के ढंग का वस्त्र पहिनना उन्हीं से सीखा। कमरा पादरी मेज कुंजी कमीज आदि शब्द पुर्तगाल भाषा की देन हैं। भारत म तम्बाकू का प्रचार पुर्तगालवालों ने किया। पपीता अनन्नास आदि फल और गोभी आदि सब्जियाँ हमारे देश म उन्हीं लोगों की लाई हुई है। उस कई प्रकार के सुन्दर-सुन्दर फूल और जो मुसलमान बादशाहों की देन

है वैसे ही घर घर में धुआँ उड़ाता हुआ हुक्का और सिगरेट पुर्तगाल वासियों की देन है।

ईसा की १८वीं सदी के मध्य में फ्रांस के लोगों ने भारत में जोर बाँधा। उनकी डच लोगों से टक्कर हुई जिसमें डच-शक्ति विदीर्ण हो गई परन्तु फ्रांसीसी भी देर तक अपनी राज्य-सत्ता को स्थिर न रख सके। अंग्रेज लोग व्यापार करने के लिये १७वीं शताब्दी के आरम्भ में भारत में आये और मुगल बादशाह जहाँगीर की आज्ञा लेकर सूरत में व्यापार की कोठी खोली। उसके पश्चात् कहीं चतुराई से और कहीं छल से अंग्रेज लोग कदम जमाने गये और अन्त में फ्रांस को परास्त करके अंग्रेजों ने कलकत्ते में अपने पाँव जमा लिये। १७५७ ई० में पलासी की जो प्रसिद्ध लड़ाई हुई, उसमें बल और छल दोनों का प्रयोग करके अंग्रेज बंगाल के शासक बन गये। यहाँ से आरम्भ करके एक शताब्दी तक अंग्रेज भारत में आगे ही आगे बढ़ते गये जिसकी समाप्ति पर हम उन्हें लगभग सारे भारत का स्वामी हुआ पाते हैं।

आर्थिक जीवन पर प्रभाव—अंग्रेज लोग भारत में मुख्य रूप से व्यापार करने के लिये आये थे। उस समय राजनीतिक सत्ता उनके लिये गौण थी। राजनीतिक सत्ता प्राप्त होने पर उनका सबसे अधिक जोर भारत से आर्थिक लाभ प्राप्त करने का रहा।

पलासी के युद्ध में सफलता प्राप्त करने का परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों को बंगाल बिहार और उड़ीसा के दीवानी अधिकार मिल गये। दीवानी अधिकार मिलने का अभिप्राय यह था कि प्रान्त भर में माल गुजारी वसूल करने का काम अंग्रेजों ने अपने हाथ में लिया। मालगुजारी वसूल करने के लिये थोड़ी-बहुत शासन-शक्ति की आवश्यकता भी रहती है। स्वभावतः वह भी अंग्रेजों के पास चली गई। यद्यपि कहने को शासन का अधिकार नवाब के पास था परन्तु वस्तुतः वह कम्पनी के हाथ की कठपुतली ही बन गया था।

कम्पनी ने दीवानी अधिकारों के बदले में मुगल बादशाह को वार्षिक

२ ६० ००० पौण्ड कर देना अगीकार किया था। उसे नवाब क खच भी चलाने थे और अपना पेट भी भरना था। इस प्रकार यह तिहरा बोझ कम्पनी ने अपने अधीन प्रदेश की साधारण प्रजा के भरोसे पर ही ले लिया था। उस बोझ को पूरा करने के लिये कम्पनी को जो उपाय करने पडे उनका इतिहास बहुत काला है। कम्पनी के पास सिवा इसके कोई उपाय नहीं था कि वह प्रजा का निदयता से शोषण करती। उसन यही किया।

जब अग्रजो को बगाल की दीवानी मिली तब वहाँ क व्यापारी टर्की अरब ईरान और तिब्बत स पुष्कल व्यापार करत थ। बगाल से जानेवाली वस्तुओ की मात्रा बहुत अधिक थी। जानवाली वस्तुओं म सूत और रेशम के कपडे चीनी नमक पटसन अफीम आदि मुख्य थी। बगाल के महीन और सुन्दर सूती कपडो की दुनिया भर म धाक थी। योरुप में व्यापारी उन्हे बहुत चाहते थे। उनके द्वारा ढाके की मलमल एक ओर जापान और दूसरी ओर हालण्ड आदि देशो मे पहुँचाई जाती थी। बगाल से बाहर जानवाल माल की मात्रा आने वाले माल स अधिक होने के कारण देश म सोना बरसता था क्योंकि अधिक चीजो के दाम सोने में निर्धारित जाते थ।

अग्रजों क आने से पहले बगाल का व्यापार बहुत समृद्ध दशा म था। अग्रजो को दीवानी का अधिकार मिलने के पश्चात उसका निरन्तर ह्रास होने लगा। अग्रज भारत की आर्थिक खेती पर मानों टिड्डीदल की तरह टूटे। पहला वार चिरकाल से सचित सोने पर हुआ। मीर जाफर और मीर कासिम को कम्पनी और उसके कमचारियो को हरजाना और रिश्वतो के रूप म जो धन राशि देना पडी उसकी मात्रा तीन करोड रुपए से कम न होगी। यह मात्रा कितनी बडी थी इसका अनुमान तब लगाया जा सकता है जब हम यह ध्यान म रखें कि उस समय रुपए की कीमत वस्तुओ के रूप म आजकल के रुपये से कम-से-कम साठ-सात गुना अधिक थी। जब कम्पनी को लगानवसूली का अधिकार मिल गया तब तो पूरी

लुटाई होने लगी। अनेक मार्गों से भारत का सोना विलायत जाने लगा। अंग्रेज सरकारी नौकर और व्यापारी जो कुछ कमाते थे या ऐंठते थे उसका बडा भाग विलायत को चला जाता था। हिसाब लगाया गया है कि १७५५ और १७८० के मध्य में न्यून-से-न्यून ६० करोड रुपये बंगाल से निकलकर विलायत पहुँच गये।

जिन उपायों से कम्पनी और उसके अंग्रेज कर्मचारी धन लूटते या ऐंठते थे वह अनेक थे। उनमें से मुख्य दस्तक प्रथा थी। दस्तक प्रथा की बुनियाद शाहजादा शुजा के समय में पड़ी थी। वह बंगाल का गवर्नर था। उस समय बंगाल में अंग्रेजों के व्यापार की मात्रा बहुत कम थी। कम्पनी ने शाहजादा से यह अधिकार प्राप्त कर लिया कि प्रतिवर्ष इकट्ठी ३००० रुपयों की रकम लेकर कम्पनी को आन्तरिक व्यापार पर लगने वाली अढ़ाई फीसदी चुंगी से मुक्त कर दिया जाय। बादशाह फर्रुखसियर के समय में इस फर्मान में इतनी बात और बढा दी गई कि कम्पनी अपने कर्मचारियों का व्यापार के जो आज्ञापत्र या दस्तक प्रदान करे उनका किसी निजू व्यापार में प्रयोग न किया जाय वे केवल कम्पनी के व्यापार के लिए थे निजू व्यापार के लिए नहीं। ज्यों-ज्यों कम्पनी की शक्ति बढ़ती गई त्यों त्यों दस्तकों का दुरुपयोग भी बढ़ता गया। कम्पनी के व्यापार की मात्रा बहुत बढ गई, यह तो अलग चीज थी कम्पनी की दस्तकों से अंग्रेज कर्मचारी और उनके पिट्ठू हिंदुस्तानी जो लूट मचाने लगे असली समस्या वह बन गई। चुंगी से मुक्त हो जाने के कारण कम्पनी के आदमियों ने व्यापार के मुख्य भाग पर कब्जा कर लिया। देसी व्यापारी लगभग चौपट हो गये। मीर जाफर और मीर कासिम ने इस सम्बन्ध में कम्पनी से बहुत शिकायतें कीं परन्तु कोई सुनवाई नहीं हुई। अन्त में तंग आकर मीर कासिम ने आन्तरिक व्यापार से चुंगी बिलकुल हटा दी ताकि देसी व्यापारी घाटे में न रहें। इसमें कम्पनी के देवता इतने नाराज हुए कि कासिम की गद्दी और प्राण दोनों जाते रहे।

बंगाल की मुख्य कारीगरी जुलाहों के हाथ में थी। उनके बनाये सूत

और रेशम क वस्त्र दश विन्शा म बहुत पसन्द किय जात थ। जब कम्पनी न दीवानी क अधिकार का व्यापार का सहायक बना लिया ता उनक कर्मचारी जुलाहा से कपडा तयार करन क इकरारनाम करन लग। कम्पनी का जोर था इसलिए एक ता दर बहुत कम ठहराय जात थ और दूसरे जुलाहा स यह वायदा ल लिया जाता था कि कम्पनी क सिवा अन्य किसी क लिय कपडा तयार न करेंगे। इन शर्तों का खूब सख्ती से पालन कराया जाता था जिसस कारीगर इतन तग आ गय कि अपन घर और पेशा छोड-छोडकर भागन लग। प्रसिद्ध तो यह है कि कम्पनी क कर्मचारियों क डर स बहुत स कारीगरा न अपन हाथा के अगूठ कटवा डाल। १७६७ तक कपडे की कारीगरी का एसा ह्रास हो गया था कि अग्रज अफसर जुलाहों क अभाव का शिकायत करन लग। इस प्रकार बगाल का कपडे का फलता-फूलता व्यापार कम्पनी और उसके कर्मचारियों की लोलुपता और क्रूरता स बर्बाद हो गया।

इतन स भी सन्तुष्ट न होकर अग्रज व्यापारियों न एक अनूठी स्वार्थपरता का परिचय दिया। कम होकर भी भारत का बढिया कपडा विलायत के बाजार म जाकर बिकता रहा। इसस इगलण्ड क निवासियों क मन म इतनी जलन पदा हुई कि ब्रिटिश पार्लियामण्ट न १७ और १७२० में कानून पास करक भारत क सूती तथा रेशमी कपडे का पहिनना तथा अन्य उपयोग म लाना बन्द कर दिया। १७८ म अग्रज व्यापारियों क दबाव स कम्पनी न यह स्वीकार कर लिया कि बगाल का छपा हुआ सूती कपडा विलायत न भजा जायगा।

बगाल की कारीगरी और व्यापार का अन्तिम चोट जमीन के स्थायी बन्दोबस्त स पहुँची। स्थायी बन्दोबस्त न जमीदारों की बदौलती दी जिस स मूल-धन का बडी मात्रा खेती की ओर झुक गई। व्यापार पहल ही मन्दा हो रहा था इस अन्तिम घाव न उसका लगभग सर्वनाश ही कर दिया।

इन परिस्थितियों म इगलण्ड के व्यापारियों न पूरा लाभ उठाया।

ज्यों-ज्यों भारत की व्यापारिक इमारत गिरती गई इंगलैण्ड का भवन खड़ा होता गया। कारीगरी और व्यापार के नाश की जो प्रक्रिया बंगाल में बरती गई लगभग वही सारे देश में दोहराई गई। भारत के कारीगरों और व्यापारियों की कठिनाइयाँ बढ़ती गईं और इंगलैण्ड का व्यापार बढ़ता गया। अंग्रेजी शिक्षा के फैलने का एक परिणाम यह हुआ कि सब प्रकार के विलायती माल की माँग बढ़ने लगी। शराब की आमद सबसे अधिक बढ़ी। विलायत के कपड़ों और जूतों का पहिनना रिवाज में शामिल हो गया जिससे अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी माल की बिक्री में मानो नित्य-सम्बन्ध हो गया।

उधर इंगलैंड में १६वीं सदी के मध्य में शिल्प-कला में बड़ी भारी जागृति उत्पन्न हो गई। कुछ लेखकों का विचार है कि उस जागृति का मूल कारण भारत से खिंचा हुआ बेहिसाब धन ही था। उस जागृति का प्रभाव यह हुआ कि वहाँ वस्तुओं के उत्पादन की बाढ़-सी आ गई। यदि उस समय भारत में कोई ऐसी सरकार होती जिसके हृदय में भारत की कारीगरी और व्यापार के लिये दर्द होता तो वह कानून द्वारा देश का संरक्षण करती परन्तु कम्पनी का तो अपना दिल ही ईमानदार नहीं था। उसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि लार्ड डलहौजी के समय बन्दरगाहों की सुविधाओं को बढ़ाकर विलायत के माल के निर्बाध प्रवेश का मार्ग और भी अधिक खुला कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि १६वीं सदी के मध्य तक पहुँचते-पहुँचते भारत की कारीगरी और व्यवसाय लगभग नष्ट हो गये। बंगाल लखनऊ अहमदाबाद नागपुर मथुरा बनारस तंजोर पूना, नासिक और काश्मीर जैसे उत्तमोत्तम वस्तुओं के निर्माण के ठिकाने उजड़ने लगे और उनकी जगह मांचेस्टर और लिवरपूल के कारखानों का धुआँ आकाश को चूमने लगा।

शिक्षा पर प्रहार—जब अंग्रेज भारतवर्ष में आये तब यहाँ प्रारम्भिक शिक्षा देने की बहुत सरल और प्राचीन प्रथा प्रचलित थी। लगभग प्रत्येक शहर और गाँव में पाठशालाएँ थीं जहाँ पंडित पढ़ाता था। उसे पाठशाला

या दान करते थे और जहाँ मौलवी पढ़ाता था वह मकतब कहलाता था। वह पाठशालायें या तो चौपाल, मन्दिर या मस्जिद में होती थीं अथवा पंडित या मौलवी के घर में। अध्यापक के निर्वाह की व्यवस्था गाँव के लोग करते थे और उनकी सेवा-शुश्रूषा छात्रों के जिम्मे रहती थी। इस प्रकार बहुत थोड़े व्यय पर व्यापक रूप से देश के बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा मिल जाती थी।

ऊँची शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्रों को शिक्षा के बड़े केन्द्रों में जाना पड़ता था। संस्कृत की ऊँची शिक्षा के लिए बनारस, मिथिला और नवद्वीप और अरबी फारसी की ऊँची शिक्षा के लिए दिल्ली, आगरा, पटना, जौनपुर आदि नगर प्रसिद्ध थे। दूर-दूर से लोग वहाँ योग्यता प्राप्त करने के लिए जाते थे। देश के अधिक भाग में उस समय राज भाषा के लिए संस्कृत और अरबी का अध्ययन कराया जाता था। पाठशालायें और मकतब साधारण जनता की सहायता से और ऊँची शिक्षा देने वाले शिक्षणालय शासकों की या बड़े धनियों की सहायता से चलते थे।

इस प्रकार सरल और सस्ते ढंग से भारत की साधारण और मध्यम वर्ग की प्रजा शिक्षा प्राप्त कर लेती थी।

यूरोपियन लोगों के भारत में प्रवेश करने के साथ यहाँ के जीवन के हरेक अंग पर बुरा प्रभाव पड़ने लगा। हम देख आए हैं कि ज्यों-ज्यों विदेशी शासन फैलता गया त्यों-त्यों देश की कारीगरी मरती गई। फलतः साधारण प्रजा गरीब होने लगी। जिन प्रान्तों में स्थायी बन्दोबस्त प्रचलित हो गया उनमें जहाँ जमींदार धनी के पास धन इकट्ठा होने लगा वहाँ किसान लोग गरीब होने लगे। रात-दिन फौजों की भाग-दौड़ के कारण भी ग्रामों की दशा बिगड़ने लगी। परिणाम यह हुआ कि जहाँ-जहाँ यूरोपियन लोगों के चरण पड़ते गए वहाँ-वहाँ के गाँव सामाजिक संगठन के साथ-ही-साथ शिक्षा की प्राचीन योजना भी टूटती गई। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत की यह दशा हो गई थी।

पुराना शिराजा बिखर चुका था और नया बनने की कोई सूरत नहीं दिखाई देती थी। देश में अभी व्यापक जागृति उत्पन्न नहीं हुई थी।

खाली मैदान में शिक्षक बनकर सबसे पहले पादरी उतरे। पुर्तगाल के जैस्विट पादरियों ने ऐसे स्कूल खोले जिनमें पुर्तगाली बच्चों के अतिरिक्त भारतीय बच्चों को भी ईसाई धर्म की शिक्षा देना प्रारम्भ की। भारतवासी बच्चों को शिक्षा देने का माध्यम उन स्कूलों में मुख्य रूप से लोकभाषा को ही रखा जाता था। उनके पश्चात पादरियों ने मद्रास प्रान्त में उसी शैली पर स्कूल खोले जिनमें तामिल भाषा में बाइबिल पढ़ाई जाती थी। उन्नीसवीं सदी प्रारम्भ होने पर यह परिस्थिति उत्पन्न होगई कि भारत में अन्य सब यूरोपियन देशों को परास्त करके इंगलैण्ड ने अपना प्रभाव बहुत से प्रान्तों में स्थापित कर लिया था। फलतः अन्य देशों के पादरियों द्वारा चलाये हुए स्कूल भी अंग्रेज मिशनरी सोसाइटियों के हाथों में आ गये।

अंग्रेजी सरकार की ओर से पहला शिक्षणालय १७८१ में खोला गया। वारेन हेस्टिंग्ज ने अपने शासन में पढ़े-लिखे मुसलमानों की सहायता प्राप्त करने के लिये कलकत्ते में मदरसा स्थापित किया जिसमें अरबी और फारसी की शिक्षा दी जाती थी। १० साल बाद सरकार ने शिक्षित सहायक और कर्मचारी तैयार करने के लिये बनारस में संस्कृत कालेज की नींव डाली गई। उस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपने काम की पूर्ति के लिये ऐसे शिक्षित भारतवासियों की आवश्यकता समझती थी जो अरबी फारसी और संस्कृत के अच्छे जानकार होने के साथ-साथ अंग्रेजों के हितैषी हों। उस समय के सरकारी शिक्षणालय मुख्य रूप से इसी उद्देश्य से खोले गये थे। कम्पनी भारतवासियों को ईसाई बनाने को उत्सुक नहीं थी। इस कारण वह ईसाई मिशनरियों के शिक्षा या प्रचार सम्बन्धी प्रयत्नों को बहुत अच्छी दृष्टि से नहीं देखती थी। कम्पनी के बोर्ड आफ डायरेक्टर्स का यह निश्चित मत था कि भारतवासियों को अंग्रेजी भाषा या वाङ्मय का ज्ञान कराने से कोई लाभ न होगा उलटे

हानि हो सकती है। इगलण्ड म उस समय प्राय कहा जाता था कि शिक्षा देकर हम ग्रमरीका के उपनिवेशो को खो चुके हैं ग्रब भारत म उस पराक्षण को दुहराना नही चाहते। एस ग्रग्रज हिन्दुस्तानियो को ग्रग्रजी भाषा या पाश्चात्य वाङमय की शिक्षा देना नीति विरुद्ध समझते थ।

उनके ग्रतिरिक्त एसे ग्रग्रजो की भी कमी नहीं थी जिनका विश्वास हो एसा था कि भारत पर ग्रग्रजी को लादना ग्रावश्यक है क्योकि स्वय इनके पास भाषा साहित्य ग्रौर धार्मिक विचारो का बहुमूल्य कोष विद्यमान है। सर टामस मनरो ने लिखा है कि यदि भारत ग्रौर इगलैण्ड म सभ्यता के लेन-देन का व्यापार होने लगा तो भारत से इगलैण्ड म जो माल स भरा जहाज ग्रायगा उसम इगलण्ड को लाभ ही रहगा।

एसे ग्रग्रजो की सख्या कम थी परन्तु उनका प्रभाव कम नहीं था। यद्यपि १८१ म ईस्ट इण्डिया कम्पनी को जो नया चाटर मिला उनम यह निर्देश था कि कम्पनी न्यूनातिन्यून एक लाख रुपया प्रतिवष भारतवासियो की शिक्षा पर खच किया करे परन्तु वस्तुत १८२३ तक कम्पनी ने इस दिशा म कोई विशष कदम नहीं उठाया। ग्ररबी फारसी ग्रौर सस्कृत की पुरानी किताबें छापने के ग्रतिरिक्त शिक्षा सम्बन्धी कोई काय नही किया गया।

इसी बीच म पादरियो का प्रयत्न जारी रहा। व जहाँ जाते वहाँ स्कूल खोलत किताबें छापते ग्रौर प्रिंटिंग प्रस चलाते। उनके स्कूलो म ग्रग्रजी ग्रौर देशी भाषा दोनो की शिक्षा दी जाती थी।

यह परिस्थिति थी जब १८२ म सवसाधारण की शिक्षा के लिए एक जनरल कमेटी बनाई गई। यह जनरल कमेटी भी वस्तुत उस जागृति का परिणाम थी जो देश म ग्रौर विशेषत बगाल म उत्पन्न हो चुकी थी।

उन दिनो लाड विलियम बटिक भारत का गवनर-जनरल था। वह ग्रग्रजी को शिक्षा का माध्यम बनाने का पक्षपाती था। उसने इगलैण्ड के प्रसिद्ध लेखक ग्रौर वक्ता लाड मकाले को ग्रपना कानूनी सदस्य नियुक्त

या। लार्ड मकाले को उस समय की निर्णीत शिक्षा नीति का मुख्य
ील और उदभावक माना जाता है। उस नीति की पृष्ठभूमि क्या
यह पूरी तरह जानना हो तो हम लार्ड मकाले के उस प्रसिद्ध विवरण
त्र (मिनट) का अध्ययन करना चाहिये जो उन्होंने कानून बनने से पहले
्रकाशित किया है, यहाँ हम केवल कुछ उद्धरण देकर उसके अभिप्राय को
प्रकट करेंगे—

उस समय तक कम्पनी की ओर से अरबी और संस्कृत के प्रामाणिक
ग्रन्थों का प्रकाशन किया जाता था। उस पर लार्ड मकाले ने लिखा
था—

आजकल हम ऐसी किताबों को प्रकाशित करने की संस्था बने हुए
है जिनका उतना भी मूल्य नहीं जितना उस कोरे कागज का था जिस
पर यह किताब छापी गई है। आजकल हमारा काम बेहूदा इतिहास
बेहूदा अध्यात्मशास्त्र बेहूदा पदार्थ विज्ञान और बेहूदा धर्मशास्त्र को कृत्रिम
प्रोत्साहन देना है।

कुछ यूरोपियन विद्वानों और कम्पनी के ऊँचे अफसरों ने भारत
की संस्कृति और साहित्य की प्रशंसा की थी। उस पर मकाले ने यह
टिप्पणी की थी—

मैं पूर्व के वाङमय के सम्बन्ध में पौरस्त्यवादियों की सम्मति को
मानने को तैयार नहीं हूँ। उनमें से मुझे एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं
मिला जो इस बात से इन्कार करे कि यूरोप के अच्छे साहित्य की एक
अलमारी हिन्दुस्तान और अरब के सारे साहित्य के बराबर कीमत
रखती है।

यह थी पृष्ठभूमि जिस पर मकाले ने अपना कल्पनामय चित्र खींचा
था। उसने १८३३ में चार्टर पर पालियामेण्ट में जो भाषण दिया था
उसमें कहा था— मैं चाहता हूँ कि भारत में यूरोप के सब रीति रिवाज
जारी किये जायें और उससे हम अपनी कला और आचारशास्त्र साहित्य
और कानून का अमर साम्राज्य भारत में कायम करें और इस उद्देश्य

की पूर्ति के लिये हम भारतवासियों की एक ऐसी श्रेणी उत्पन्न करें जो हमारे और उन करोड़ो के बीच म जिन पर हम शासन करना है दुभापिये का काम दें जिनका खून तो हिन्दुस्तानी हो, परन्तु वे रुचि कर्त्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी सम्मति और बुद्धि म पूरे अग्रेज हो।

भारत म अग्रेजी शिक्षा को प्रचलित करने म बोर्ड आफ डायरेक्टस के मुख्य उद्देश्य दो थे। पहला उद्देश्य था भारत म व्यापार की वृद्धि और दूसरा उद्देश्य था सरकार के सस्ते नौकर तयार करना। शिक्षा सम्बन्धी पब्लिक कमटी के सामने बयान देते हुए कई ऐसे अग्रेजो ने जो भारत म रह चुके थे यह सम्मति दी कि अग्रेजी शिक्षा का प्रभाव यह होगा कि हिन्दुस्तानी लोग यूरोपियन ढग का रहन-सहन सीखेंगे जिसम शराब पीना भी शामिल होगा। फलत भारत म अग्रेजी वस्तुओ का प्रचार बढगा। बोर्ड के लिये यह युक्ति सबसे प्रबल थी क्योंकि उसका मुख्य लक्ष्य ही पैसा कमाना था। दूसरा उद्देश्य सरकार के लिये सस्ते नौकर तयार करना था। अग्रेजों के पाँव भारत म जम गये थे। अब उन्हें यह विश्वास हो गया था कि उन्हें सदा के लिये इस देश की हुकूमत करनी है। इससे वह समझ रहे थे कि इतने बडे राज्य को केवल विलायत से लाये हुए नौकरो के सहारे से नही चलाया जा सकता। लार्ड विलियम बैंटिक ने ऊची अदालतो की भाषा अग्रेजी बना दी थी और महकमो का बहुत सा काम अंग्रेजी म ही होता था। हिन्दुस्तानी लोग अग्रेजो की अपेक्षा बहुत कम वेतन पर काम करने को तयार हो जाते थे। यह सब कुछ सोच विचारकर बोर्ड ने पब्लिक कमटी की रिपोर्ट को अगीकार करके यह निश्चय कर दिया कि भविष्य म सरकार अग्रेजी शिक्षा का प्रोत्साहित करना अपना कर्त्तव्य समझगी और उसी पर व्यय करेगी।

एक दोगले समाज का उद्भव—जस मुसलमान राज्य के अन्तिम दिनो में भारत म एक दोगला वग उत्पन्न हो गया था वस ही उन्नीसवी शताब्दी के तीसरे चरण म भी दोगला वग तैयार हो गया। उस वग के लोग यद्यपि रूप रग में भारतवासी थे तो भी वेश भूषा वाणी और रहन

सहन म पूरे साहब बनने का यत्न करते थ । उनका वेष कोट-पैंट नकटाई और हैमन का बूट था । उनकी भाषा घर मे अग्रजी मिश्रित लोकभाषा और बाहर अच्छी-बुरी जैसी भी हो अग्रेजी थी । भोजन करने क ढग विलायती बन गये थे और बीफ खाना तथा विलायती शराब का पीना सभ्यता का चिह्न समझा जाने लगा । कानून या व्यापार का और सरकारी दफ्तरो का काम तो अग्रजी म होता ही था अन्य प्रान्तीय कार्यों क लिये भी अग्रजी को ही समुचित साधन समझा जाता था । सबसे बुरी बात यह हुई थी कि उस समय के लोग भारतीय भाषा भारतीय वेश भूषा और अपनी ऐतिहासिक परम्पराओ को घृणा की दृष्टि से देखने लगे थे । साधारण जनता के पढ़ लिखे वर्ग की यह हालत थी और सवसाधारण जनता शिक्षा न होने से सर्वथा अधकार म थी । वे अपनी रूढि-परम्परा की लीक पर चले जा रहे थे । देश क शिक्षितों और अशिक्षितो के मध्य म एक इतनी बडी खाई खुद गई कि उसे पार करना असम्भव-सा हो गया था । अग्रजी शिक्षित समाज का मुँह लन्दन की ओर था और साधारण जनता का मुँह पृथ्वी की ओर । दोनो की अभि लाषायें और उमग एक-दूसरे से बिलकुल विपरीत हो गई थी । इस प्रकार राष्ट्रीय एकता के सर्वथा अभाव से संस्कृति के बन्धन अत्यन्त ढीले पड गये थे जिसके कारण देश का राष्ट्रीय भविष्य घोर अधकार से आवृत हो गया था ।

पच्चीसवाँ अध्याय

पाश्चात्य संस्कृति पूरे ज़ोर पर

सन ५७ का विद्रोह—इस प्रकार चारों ओर से दबाये जाकर भारतीय समाज ने जो पहला प्रयत्न किया वह सन् सत्तावन के विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ। कुछ इतिहास-लेखकों ने उसे सिपाही विद्रोह माना है तो कुछ ने उसका कुछ अधिक व्यापक रूप मानते हुए उसे एक असफल राजनीतिक विद्रोह कहा है परन्तु यदि सब परिस्थितियों और घटनाओं पर विचार करें तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि उसके मूल कारणों में मुख्यता सांस्कृतिक कारणों की थी।

सन् ५७ के विद्रोह का मूल कारण क्या था? जिन सिपाहियों ने मेरठ छावनी में विद्रोह का झण्डा खड़ा किया उनकी कोई विशेष महत्वाकांक्षा नहीं थी। उनके विद्रोह का प्रकट कारण यह था कि बन्दूकों के प्रयोग से धर्म भ्रष्ट होने का सन्देह हो गया था। यह कोई राजनीतिक कारण नहीं था।

जब विद्रोही लोग दिल्ली में घुसे तब उन्होंने केवल अंग्रेज़ों को नहीं मारा दरियागंज में ईसाइयों की जो छावनियाँ थीं उन्हें भी उजाड़ दिया और हिन्दुस्तानी ईसाइयों को मार दिया।

विद्रोही सेनाओं के नारे भी नतिक नहीं थे। हर-हर महादेव अल्लाहो अकबर या सत-श्री अकाल ये सब नारे धार्मिक थे।

यह ठीक है कि बादशाह राजा या नवाब अपने-अपने राजनीतिक स्वार्थों को लेकर विद्रोह में शामिल हुए, परन्तु सिपाहियों या आम जनता में से जिन्होंने विद्रोह में भाग लिया उन्हें प्रेरणा देने वाले कारण राजनीति के अतिरिक्त थे। उनमें ईसाइयत और अंग्रेज़ों के अन्य आचार व्यवहार सरकार की धार्मिक मनोवृत्ति और सामाजिक भेद भी सम्मिलित

थे। इस कारण यदि हम यह कहें कि वह विद्रोह जितना राजनीतिक था उससे अधिक या कम-से-कम उतना सांस्कृतिक था तो अत्युक्ति न होगी। वह संगठित नहीं था और स्पष्ट लक्ष्य को सामने रखकर नहीं किया गया था। वह भारतीय संस्कृति का वैसा शारीरिक उत्थान था जैसा नींद की दशा में कोई आघात आने पर उत्पन्न होता है। वह उत्थान अवचेतन कहला सकता है परन्तु था आत्म रक्षा का प्रयत्न ही।

पाश्चात्य संस्कृति चरम सीमा पर—यह प्रयत्न निष्फल हो गया और उसके पश्चात् भारत पर इंगलैण्ड का शासन नया रूप धारण करके अवतीर्ण हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को समाप्त करके महारानी विक्टोरिया ने शासन अपने हाथ में ले लिया। उस समय विक्टोरिया ने अपनी वह घोषणा प्रकाशित की जिसमें भारतवासियों से प्रतिज्ञा की गई थी कि उनके साथ वही सलूक किया जायगा जो अंग्रेजों के साथ और सब धर्मों की समान रूप से मान रक्षा की जायगी। उस घोषणा ने अंग्रेजी पढ़े लिखे भारतवासियों के हृदयों को मोह लिया और उनके हृदय पश्चिम की ओर खिंचने लगे। अन्य भी कई कारण हुए, जिनसे देशवासियों का सम्पर्क और खिंचाव पश्चिम से बढ़ने लगा। सिविल सर्विस की परीक्षायें विलायत में होती थीं। देश के अंग्रेजी पढ़े लिखे नवयुवकों को ऊँची सरकारी नौकरी का प्रलोभन विलायत की ओर आकृष्ट करने लगा वहाँ जाकर वे पश्चिम की सभ्यता के चकाचौंध करने वाले रूप से प्रभावित हो जाते थे और उसके सब दोषों को लेकर देश में आते थे। उनकी वेश भूषा बदल जाती थी मातृभाषा का स्थान अंग्रेजी ले लेती थी खान-पान के ढंग विलायती हो जाते थे और बीफ और शराब के बिना भोजन बेस्वाद प्रतीत होने लगता था। यथा राजा तथा प्रजा। अंग्रेजों का अनुकरण अंग्रेजी पढ़े लिखे भारतवासी अक्सर करने लगते थे तब स्वाभाविक ही था कि उनका अनुकरण आम प्रजा करती। इस प्रकार नई राज्य व्यवस्था में भारतीय संस्कृति पर पश्चिम की संस्कृति का आक्रमण अधिक जोरदार हो गया।

यद्यपि रानी की घोषणा में भारतवासियों को विश्वास दिलाया गया था कि सब धर्मों के साथ एक सा सलूक किया जायगा तो भी ईसाई चर्च को सरकार का विशेष संरक्षण प्राप्त रहा। सरकार से चर्च को जो विधिपूर्वक सहायता मिलती थी वह तो जारी ही रही अंग्रेज अफसरों का पादरियों के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार और अधिक बढ़ गया। अंग्रेज अफसरों के प्रोत्साहन से ईसाई पादरियों को जो सुविधायें मिलीं उनके कारण उन्हें अशिक्षित और पिछड़ी हुई जातियों में अद्भुत तेजी से फसल काटने का अवसर मिला। गाँव के गाँव और कहीं-कहीं ज़िले के ज़िले ईसाई बनने लगे। ईसाई बनने का अभिप्राय था भारतीय संस्कृति का परित्याग और पाश्चात्य संस्कृति की पूरी या अधूरी नकल।

१८५८ से लेकर लगभग २५ वर्षों तक भारत पर पश्चिम का राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभाव बिना किसी रुकावट के बढ़ता गया।

सुधारकों का प्रादुर्भाव—हमने भारतीय संस्कृति के इस लम्बे इतिहास में देखा है कि हमारी संस्कृति में एक असाधारण दृढ़तापूर्ण लचीलापन है। वह बाहर से आने वाले प्रहार के सामने पहले थोड़ा-सा दब जाती है परन्तु टूटती नहीं और अन्त में बड़े जोर से प्रतिक्रिया करती है और उसे उखाड़ फेंकती है। पाश्चात्य सभ्यता के आक्रमण के सामने एक बार तो भारत की सम्पूर्ण संस्कृति जिसमें राज्य धर्म और भाषा सभी कुछ सम्मिलित था दबती और लुप्त होती सी प्रतीत हुई परन्तु यह दशा देर तक न रही। पाश्चात्य सभ्यता के आगे बढ़ते हुए प्रवाह के सामने १९वीं सदी के आरम्भ से ही चट्टान खड़ी होनी शुरू हो गई थी। राजा राममोहन राय ने सन् १८२० में ही ईसाई पादरियों के बढ़-चढ़ निर्मूल दावों को निर्मूल सिद्ध करने के लिये कलम उठाई और उपनिषदों तथा अन्य शास्त्रों की ओर देशवासियों का ध्यान खींचा। उसके पश्चात् लगभग सवा सौ वर्षों तक देश में निरन्तर ऐसे विद्वान उपदेशक और सुधारक होते रहे जिन्होंने देश की संस्कृति की रक्षा करके उसकी स्वाधीन सत्ता को बचा लिया।

राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज—राजा राममोहन राय का जन्म १७७२ म बगाल के राधानगर नाम के गाँव म हुआ। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा अरबी-फारसी म हुई थी। इस्लाम के एकेश्वरवाद ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया और वे धम की खोज म घर स निकल गये। तिब्बत जाकर वे लामाओ से मिले जिनसे उन्हे बौद्ध धम का ज्ञान मिला। इसी बीच मे उन्होंने संस्कृत म भी काफी योग्यता प्राप्त कर ली थी। अंग्रेजी उन्होंने २२ वर्ष की आयु मे सीखी।

उन दिनों अंग्रेजी सरकार इस प्रश्न पर विचार कर रही थी कि भारतवासियो को मातृभाषा द्वारा शिक्षा दी जाय या अंग्रेजी द्वारा। विस्तृत संसार के ज्ञान का साधन होने के कारण राजा राममोहन राय इस पक्ष म थे कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो। उन्होने अपने पक्ष का जोरदार समर्थन किया। जब सरकार ने सती प्रथा को बन्द करने के लिये कानून बनाने का विचार किया तब उन्होंने न केवल उसका धार्मिक समर्थन किया बल्कि सती प्रथा के विरुद्ध हजारो हस्ताक्षर करवाकर विलायत भेजे जिससे सती प्रथा विरोधी कानून के बनने मे बहुत सहायता मिली। धार्मिक विचारो की दृष्टि स यद्यपि राजा राममोहन राय बहुत कुछ सधतन्त्रवादी थे तो भी उनके लेखो और पुस्तकों का शिक्षित भारतीयो पर यह उत्तम प्रभाव पड़ा कि उपनिषद और अन्य भारतीय शास्त्र आध्यात्मिकता म किसी अन्य धम या सम्प्रदाय स कम नहीं। ब्रह्म समाज के मूलभूत सिद्धान्त उपनिषदो के अध्यात्मवाद पर आश्रित थे और *उनका सामाजिक दृष्टिकोण बहुत विस्तृत था।* वे हिन्दू समाज की कुप्रथाओं के कट्टर विरोधी थे। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये उन्होने जिस समाज की स्थापना की उसका नाम 'ब्राह्मो समाज' या 'ब्रह्म समाज' रखा। वह नवभारत की पहली सुधारक संस्था थी जिसने संगठित रूप से हिन्दू समाज के सुधार का काय हाथ म लिया।

राजा राममोहन राय के पश्चात महर्षि देवेन्द्रनाथ और बा० केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज का नेतृत्व किया। बंगाल म उन सब

महापुरुषों के प्रयत्न से प्रभूत जागृति उत्पन्न हुई। अपने धर्म-ग्रन्थों की ओर आस्था बढ़ी और समाज-सुधार के कार्य में प्रवृत्ति हुई।

ब्रह्म समाज की कार्य प्रणाली में प्रारम्भ से ही एक विशेषता रही थी। उसने सब धर्मों के प्रति श्रद्धा के भाव को कुछ ऐसे ढंग पर चलाया लिया कि उससे शिक्षित बंगवासियों की रुचि ईसाइयत और अंग्रेजी रहन सहन की ओर बढ़ गई। बा० केशवचन्द्र तो पूरी तरह पश्चिम की लहर में बह गये। इस विशेषता के कारण हम कह सकते हैं कि ब्रह्म समाज ने भारतीय संस्कृति का सर्वांग पोषण नहीं किया। विचारों में परिवर्तन तो किया परन्तु जीवनों को अधिक न छू सका। महर्षि देवेन्द्रनाथ को छोड़कर उस युग के अन्य किसी ब्रह्मनेता ने पूर्ण भारतीयता का समर्थन नहीं किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज—स्वामी दयानन्द का जन्म टंकारा ग्राम (सौराष्ट्र) में हुआ था। उनका बचपन का नाम मूलशंकर था। उनके पिता शैव थे। ११ वर्ष की आयु में बालक मूल शंकर अपने पिता के साथ शिवरात्रि के जागरण के लिये मन्दिर में गये। वहाँ जब अन्य लोग निश्चिन्त सो गये तब भक्त मूलशंकर जागता रहा। उस समय एक चूहा आया और शिवजी की मूर्ति पर घूमने लगा। यह देखकर मूलशंकर के मन में जो शंका का बीज उत्पन्न हुआ वह ईश्वर का रूप जानने की उत्कट अभिलाषा में परिणत होकर उसे घर के वातावरण से बाहर खींच ले गया। वर्षों तक पर्वतों नदियों तथा तीर्थों में भ्रमण करके और मथुरा में दण्डी स्वामी विरजानन्दजी से विद्याध्ययन करके दयानन्द ब्रह्मचारी ने कार्य-क्षेत्र में प्रवेश किया और एकेश्वरवाद, वैदिक धर्म और सामाजिक शुद्धता के समर्थन में प्रचार और संगठन से पूर्ण चमत्कारी जीवन प्रारम्भ किया।

स्वामीजी की सुधार योजना चतुर्मुखी थी उन्होंने धर्म समाज शिक्षा और राजनीति इन चारों क्षेत्रों में सुधारणायें उपस्थित की। धार्मिक क्षेत्र में वे मूर्ति-पूजा मनुष्य-पूजा आदि के स्थान में एक अमूर्त

ईश्वर की उपासना का समर्थन करते थे। सामाजिक क्षेत्र में वे जन्मगत जात-पाँत को हटाकर गुणकर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था का, स्त्रियों को पुरुषों के समान वेद तक पढ़ने के अधिकार का तथा बाल विवाह पर रोक लगाने का पृष्ठपोषण करते थे। शिक्षा के सम्बन्ध में वे गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के प्रवर्तक थे। इस प्रणाली की विशेषतायें थी ब्रह्मचर्य का पालन, गुरुओं तथा शिष्यों का निकट-सम्बन्ध, सादा जीवन और सदाचार को बढ़ाने वाली सर्वांगीण शिक्षा। राजनीति में वे अपने समय से बहुत आगे क्रान्तिकारी थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों और भाषणों में शासन की गणतन्त्र प्रणाली का और राष्ट्र की पूर्ण स्वाधीनता का प्रतिपादन किया।

स्वामीजी की एक विशेषता यह थी कि वे भारतीय संस्कृति के पूर्ण समर्थक थे। पाश्चात्य भाषा और विज्ञान आदि की शिक्षा को तो आवश्यक मानते थे, परन्तु वे प्राथमिकता भारतीय वाङ्मय को और भारतीय वेशभूषा को देते थे। उन्होंने गुजराती होते हुए भी अपने प्रचार का माध्यम राष्ट्रभाषा हिन्दी को बनाया। उन्होंने देशवासियों के हृदय में अपने अतीत के लिये गौरव का भाव उत्पन्न करने में सर्वाधिक यत्न किया।

उन्होंने अपने मिशन को स्थायी करने के लिए चैत्र सुदी ५ सं० १८७५ में आर्यसमाज की स्थापना की। विशेषकर उत्तरी भारत में उस समाज ने राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जागृति का बहुत कार्य किया है।

न्यायमूर्ति रानाडे तथा प्रार्थना समाज—श्री केशवचन्द्र सेन बहुत प्रभावशाली वक्ता थे। उन्होंने ब्रह्म समाज की शाखायें स्थापित करने के लिये देश के भिन्न भिन्न प्रदेशों में भ्रमण किया। बम्बई में जो शाखा बनी उसका नाम प्रार्थना समाज रखा गया। उसके संचालक न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे थे। रानाडे महोदय अपने समय के बहुत दूरदर्शी और विद्वान् नेता थे। प्रायः सब बातों में वे मध्यवर्ती पक्ष के समर्थक थे। पूर्व और पश्चिम में, और सरकार और उसके आलोचकों में मध्यमार्ग निकालकर समन्वय करने में वे बहुत कुशल थे। सुधार के

काय म भा व मध्यवर्ती बन। वे प्रायना समाज क सचालक होन क साथ भाय स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित परायकारिणा सभा क भाजम सदस्य भा थ। उन्होंने अपन ढग पर ब्रह्म समाज भौर भाय समाज म समन्वय करन का यत्न किया। प्रायना समाज की प्रायनाय प्राय वेदमन्त्रों भौर उपनिषदा क भाधार पर हाना थी। उसक समाज सुधार के चार मुख्य भग थ—१ स्त्री शिक्षा २ विधवाभा का पुनर्विवाह बाल-विवाह का विरोध भौर ४ जन्मगत जाति प्रथा का विरोध।

बम्बई प्रान्त के शिक्षित समाज में रानाडे महोदय के भनुयायियो की बहुत बडा सख्या थी। श्री गोपालकृष्ण गोखल का उनका परम शिष्य होन का सौभाग्य प्राप्त था। व भारतीय सस्कृति क सामाजिक तथा राष्ट्रीय भग क पूण समथक रह।

स्वामी विवेकानन्द—रामकृष्ण परमहस सवत्यागी महात्मा थ। व प्रम की मूर्ति थ भौर काला म परम भक्ति रखत थ। स्वामी विवेकानन्द न वेदान्त की दीक्षा उनस ली थी। स्वामी विवेकानन्द का पहला नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। नरेन्द्रनाथ बचपन म ही शरीर भौर मन दाना क धनी थे। वे खूब बलवान् थ भौर भद्भुत प्रतिभाशाला। पढ़न उनका भधिक झुकाव पश्चिम की भोर था। गुरु रामकृष्ण क उपदश स भारतीय शास्त्रों क भक्त बन। उन दिना क्लभर म बगाल की तत्त्वशक्ति का धाक थी। बा० केशवचन्द्र सन के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द न इस कला म बगाल क मान को बढाया। वे भग्रजी क चमत्कारी वक्ता थ। वेदान्त जैस तत्वज्ञान को ऐस सरल भौर सुन्दर ढग म समझात थ कि श्राता मुग्ध हा जाते थ। व दश म भी घूम भौर विदेश म भी। भमरीका म उनक भाषणों का भत्युत्तम प्रभाव हुआ। वहाँ क भनक पुरुष भौर उनस भधिक वहाँ की महिलायें स्वामीजी क व्याख्याना से प्रभावित होकर भारतीय सस्कृति की भक्त बन गइ। उनक कारण विदेश में भारत क सम्मान में बहुत वृद्धि हुई। सन १८९३ में शिकागो म एक विश्व धम-सम्मेलन हुआ था। उसम स्वामी विवेकानन्द के व्याख्याना का धूम मच गई। उसक

पश्चात् अमरिका और इग्लैण्ड के अनेक स्थानों म घूमकर उन्होंने भारतीय धम और तत्वज्ञान पर भाषण दिय। फिर भारत वापस आकर भी निरन्तर अपने विचारों का प्रचार करते रहे और अपने गुरु के नाम पर रामकृष्ण आश्रमों की स्थापना की।

इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक संस्थाओं और व्यक्तियों ने संस्कृति के सुधार और पुनरुद्धार म सहयोग दिया। ऐसी संस्थाओं म एक थियोसाफिकल सोसायटी भी थी। परन्तु उसमें यह दोष था कि जहाँ वह विदेशियों को भारतीय संस्कृति की ओर आकृष्ट करती थी वहाँ वह भारतवासियों का थोड़ा-बहुत अग्रजी सभ्यता की ओर भी झुका देती थी।

लोकमान्य तिलक—लोकमान्य बालगंगाधर तिलक काय प्रणाली और दृष्टिकोण म इन सुधारकों से कुछ भिन्न थ परन्तु अंतिम लक्ष्य की दृष्टि से इनके समान ही थे। व यद्यपि सुधारक नहीं कहलाये परन्तु भारतीय संस्कृति भारतीयता और भारतीय स्वाधीनता के लिये उन्होंने अद्भुत काय किया जो किसी से कम नहीं। यद्यपि मुख्य रूप से वे राजनीतिक नेता थ तो भी उनका दृष्टिकोण इतना अधिक भारतीय था कि उन्हें भारतीय संस्कृति का मूर्तस्वरूप कह सकते हैं। जीवन भर सोलहों आने राष्ट्रीय वेश पहिनते रहे। मुख्यरूप से लेखन-काय मराठी म किया गीता का भाष्य करके भारतीय वाङ्मय म बहुमूल्य वृद्धि की और अपने सारे जीवन से देशवासियों को भारतीयता के ऊँचे आदर्श सिखला गये। काम के कुछ प्रारम्भिक वर्षों म समाज-सुधार के आंदोलन से अलग रहे परन्तु धीरे धीरे व हिन्दू जाति के सामाजिक दोषों को हटाने के पक्षपाती हो गये थ। वे भारतीय संस्कृति के उग्र समर्थक और उज्ज्वल प्रतिनिधि हैं।

इसी समय में प० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, भाई रामसिंह तथा सर सयद अहमद आदि अनेक जन-नेता हुए जिन्होंने अपने अपने क्षेत्र म समाज को जगाने का प्रयत्न किया।

छब्बीसवाँ अध्याय

पश्चिम की आँखें खुलीं

जब अनेक सुधारक महापुरुष देश में जागृति की ज्योति जगाने का प्रयत्न कर रहे थे उसी समय एक और घटना ऐसी हुई जिसने अनायास ही उनकी सहायता कर दी। पश्चिम के विद्वानों ने भारत के प्राचीन वाङ्मय का अध्ययन किया तो उन्हें प्रतीत हुआ कि जिसे वे केवल कूड़े कचरे का ढेर समझते रहे वह तो सांस्कृतिक रत्नों की खान है। उनकी आँखें खुल गईं और उन्होंने भारत और उसके साहित्य की प्रशंसा में लिखना आरम्भ किया।

पाश्चात्य विद्वानों के भारतीय शास्त्रों के अनुशीलन का इतिहास बहुत लम्बा है। प्रथम अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत में कलकत्ता के चीफ जज विलियम जोन्स ने कालिदास के शाकुन्तल और मनुस्मृति का अंग्रेजी में अनुवाद किया। कुछ समय पीछे टामस कोलब्रुक ने वेदों के बहुत से मन्त्रों का अनुवाद देते हुए वेदों के सम्बन्ध में एक लेख लिखा।

इन अनुवादों ने योरप में भारत के प्राचीन वाङ्मय की चर्चा जारी करा दी। जर्मनी इस क्षेत्र में अग्रसर हुआ। आगस्ट श्लीगल और फ्रीड्रिक श्लीगल दो भाई संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे। दोनों ने हिन्दुओं के प्राचीन शास्त्रों के सम्बन्ध में पुस्तकें लिखीं। एक पुस्तक का नाम था हिन्दुओं की भाषा और ज्ञान के सम्बन्ध में। कुछ समय पीछे संस्कृत के अन्य जर्मन विद्वान् हम्बोल्ट ने भगवद्गीता के सम्बन्ध में लिखा था कि 'यह शायद संसार का गम्भीरतम और उच्चतम विचारों से पूर्ण ग्रंथ है।' जर्मन के प्रसिद्ध शोपनहार ने जब दाराशिकोह द्वारा कराये हुए उपनिषदों के अनुवाद के फ्रेंच अनुवाद को पढ़ा तो वह ऐसा मस्त हुआ कि उसने उपनिषदों को मानवोत्तर ज्ञान (परा विद्या) का भण्डार बतलाते

हुए लिखा कि उपनिषदें इस जीवन में मेरे सन्तोष का कारण रही हैं और मृत्यु के समय भी सन्तोषदायक रहेंगी।

इंगलैण्ड में जिस विद्वान ने भारतीय वाङमय की अद्भुत सेवा की वह भी जर्मन था। प्रो० मैक्समूलर का नाम योरुप के भारतीय साहित्य प्रेमियों में सबसे ऊंचा है। वह उद्भट विद्वान और परिश्रमी होने के साथ-साथ सहृदय भी थे। प्रो० मैक्समूलर ने प्राचीन संस्कृत शास्त्रों के अनुवादों की एक लम्बी माला ग्रन्थों में सम्पादित की जो Sacred Books of the East के नाम से प्रकाशित हुई। उसमें अन्य पूर्वीय देशों के पूज्य ग्रन्थों के अनुवाद भी प्रकाशित हुए।

इस प्रारम्भिक जोश में पक्षपात योग्य के सम्भ्रान्त विद्वानों ने कुछ ईसाई प्रचारकों के दबाव में आकर और कुछ इस भावना से प्रभावित होकर कि पश्चिम हर तरह से पूर्व से ऊँचा होना चाहिए भारतीय साहित्य के महत्त्व को कम करने का भी प्रयत्न किया परन्तु विचारों का जो प्रवाह चल चुका था वह न रुका और पश्चिम के पक्षपातहीन विद्वान् भारत की प्राचीन संस्कृति के प्रति आदर भाव प्रदर्शित करते रहे। उन्हें केवल धार्मिक ग्रन्थों के अनुशीलन से ही आश्चर्य नहीं हुआ अन्य सब दिशाओं से भी प्राचीन भारत की उन्नति से प्रभावित होते रहे।

धर्मशास्त्र—मद्रास के चीफ जज सर टामस स्ट्रेंज ने लिखा था—इस (साक्षी के सम्बन्ध में हिन्दू राजनियम को) पढ़कर प्रत्येक उससे लाभ उठायेगा।

वर्ण-व्यवस्था—सिडनलो ने अपने A Vision of India में लिखा था—इसमें सन्देह नहीं कि वर्ण व्यवस्था प्रकृति के आघातों के बावजूद भारतीय समाज की भौतिक स्थिरता और सन्तोष का सदियों तक साधन बनी रही। उससे प्रत्येक मनुष्य को अपना स्थान अपना काम अपना रोजगार और अपनी बिरादरी प्राप्त हो जाती है।

चरित्र—सर जान माल्कम ने लिखा था उनका (भारतवासियों) सच और साहस दोनों ही प्रशंसनीय हैं।

मक्समूलर ने अपनी 'भारत हमें क्या सिखा सकता है' नाम की पुस्तक में लिखा था—

'जो लोग भी भारतवासियों के सम्पर्क में आते रहे वे अनुभव करते रहे कि सत्य उनकी राष्ट्रीय विशेषता है। किसी ने उन पर यह दोष नहीं लगाया कि वे झूठे हैं। इसका कोई आधार अवश्य होना चाहिये क्योंकि यात्री प्रायः विदेशियों के लिये यह बात नहीं कहते कि वे सत्य बोलते हैं। जो अंग्रेज यात्री फ्रांस की यात्रा का वृत्तान्त लिखते हैं उन्हें पढ़ो तो देखोगे कि उनमें फ्रांसीसियों की सचाई की चर्चा नहीं होगी।

मि० एल्फिस्टन ने लिखा था—

(भारत के) देहाती अहिंसक मिलनसार और पड़ोसियों से प्रेम करने वाले हैं।

कर्नल टाड ने सम्मति दी थी—

'मनुष्य जाति के इतिहास में वफादारी का ऐसा चमत्कार चित्र कहीं न मिलेगा जैसा राठौर लोगों में मिलता है जिन्होंने तब तक अपने राजा का अपने और अपने देश की स्वाधीनता प्राप्त करने तक पूरा साथ दिया।

स्त्रियों का सम्मान—प्रो० एच. एच. विल्सन ने सम्मति दी थी—और यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि किसी पुरानी जाति में स्त्रियों के प्रति उतना आदर भाव नहीं बरता जाता था जितना हिन्दुओं में।

साहित्य—प्रो० मैक्डानल ने लिखा था—

संस्कृत साहित्य की योरप को बौद्धिक देन असन्दिग्ध रूप में बहुत बड़ी है, आगे वर्षों में शायद और भी अधिक बढ़ जायगी।

जनरल कनिंघम की सम्मति थी—

गणित का विज्ञान इतना पूर्ण था और ज्योतिष सम्बन्धी निरीक्षण इतने पूर्ण थे कि सूर्य और चाँद के रास्ते बिलकुल ठीक नाप लिये गये थे।

प्रो० मैक्डानल ने लिखा था कि संस्कृत साहित्य ग्रीक और राम-

दोनों के मिले हुए साहित्य से भी अधिक है।

प्रो० बौप— संस्कृत ग्रीक और रोमन दोनों से अधिक पूर्ण और मात्रा में अधिक होने के अतिरिक्त अधिक सार्थक और प्रभावशाली है। मैक्समूलर ने संस्कृत को 'भाषाओं की भाषा' का नाम देकर कहा है कि भाषा के विज्ञान के लिये संस्कृत इतनी ही उपयोगी है जितनी ज्योतिष के लिये गणित। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल के बारे में जर्मन दार्शनिक गेटे का पद्य प्रसिद्ध है। उसने लिखा था कि क्या तुम जवानी के फूलों और बुढ़ापे के फलों को आत्मा को आकृष्ट करने वाले और तृप्त करने वाले भावों को और पृथ्वी और आकाश के सौन्दर्य को एक जगह देखना चाहते हो तो मैं केवल शकुन्तला (अभिज्ञान शाकुन्तल) का नाम लेता हूं। और मैंने सब प्रश्नों का इकट्ठा उत्तर दे दिया।

चिकित्साशास्त्र—सर विलियम हण्टर ने लिखा था—

'भारतीय चिकित्सा ग्रन्थों का विवेचन सारे विज्ञान तक व्याप्त था।

डा० मर डब्लू हण्टर ने सम्मति दी थी—

'पुरातन भारतीय चिकित्साशास्त्रियों की शल्य विद्या साहस और निपुणता से पूर्ण थी। गणित आदि में प्राचीन भारतीयों ने जो कुशलता प्राप्त की थी पाश्चात्य विद्वान् उसकी प्रशंसा करते नहीं थकते थे। यहां के शिल्प और वास्तु विज्ञान के ग्रन्थों को देखकर वे आश्चर्यित हो गये थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने उन्हें सन्देह में डाल दिया था कि वे किसी अर्वाचीन पाश्चात्य नीतिज्ञ की किताब पढ़ रहे हैं या हजारों वर्ष पहले एक भारतीय विद्वान् के ग्रन्थ का अध्ययन कर रहे हैं।

इस प्रकार उस समय के सर्वश्रेष्ठ माने जाने वाले पाश्चात्यों द्वारा धर्म चारित्र्य विज्ञान और साहित्य आदि की अतुलित प्रशंसायें पढ़कर देशवासी मानो सोते से जाग उठे। उन पर जितना उद्बोधक प्रभाव अपने देश के सुधारकों का हुआ उतना ही विदेशी लेखकों के स्तुतिवाक्यों का भी हुआ। जिन्हें उस समय के शिक्षित भारतवासी अपने से श्रेष्ठ मानते थे उनसे अपने अतीत गौरव को सुनकर उनकी मानों आंखें खुल गईं और अपनी संस्कृति के प्रति उनके हृदयों में अनायास श्रद्धा का भाव उत्पन्न होने लगा।

सत्ताईसवाँ अध्याय

सर्वतोमुखी जागृति

पश्चिम का बौद्धिक प्रभाव—अंग्रेजों के भारत पर राजनीतिक प्रभुत्व का जो पहला विपला प्रभाव हुआ था उस पर यदि रोक न लगती तो शायद अफ्रीका के कई प्रदेशों की तरह सारा भारत ईसाई उपनिवेश बन जाता। परन्तु भारतीय संस्कृति की स्वाभाविक जीवन-शक्ति के कारण प्रवाह को रोकने की प्रक्रिया बहुत जल्दी प्रारम्भ हो गई। एक के पश्चात दूसरे सुधारक जन-नेताओं ने देशवासियों को अपने अतीत काल का गौरव याद दिलाकर और अपने दोषों को छोड़ने की प्रेरणा करके परिस्थिति को बिगड़ने से बचा लिया। अशिक्षित भारतवासियों तक तो अभी रोग पहुँचा ही नहीं था शिक्षित भारतवासी चौकन्ने हो गये जिससे भारतीय संस्कृति का किला टूटते-टूटते बच गया।

जैसे हमने पिछले अध्याय में बतलाया है उसी काल में पश्चिम के कुछ विद्वानों की सम्मतियों में परिवर्तन आने लगा। प्रारम्भ में उन्होंने भारत को केवल व्यापारिक और राजनीतिक शिकार की दृष्टि से देखा था। जब शिकार एकदम हाथ आ गया तो उनकी यह सम्मति बननी स्वाभाविक थी कि ये भारतवासी बिलकुल जाहिल और निर्बल हैं। परन्तु जब अधिक देर तक और पास से वास्ता पड़ा तो उनकी आँखें खुल गई। उन्होंने देखा कि ये लोग भी हम जैसे मनुष्य हैं, इनका भी उज्ज्वल इतिहास है और इनके पास ऐसी साहित्यिक निधियाँ हैं जो हमारे पास नहीं हैं। तब उन लोगों ने भारत के सम्बन्ध में अपनी सम्मतियों को बदलना प्रारम्भ किया जिनका आभास हम इससे पहले अध्याय में करा आये हैं।

इस सारी प्रक्रिया का परिणाम यह हुआ कि शिक्षित भारतवासी

मानो नींद से उठकर सब वस्तुओं को खुली आँखों से देखने लगे। उन्होंने देखा कि जहाँ उनका अतीत काल बहुत उज्ज्वल था वहाँ उनका वर्तमान दया योग्य है और यह भी देखा कि जिस पश्चिम का अतीत बहुत हल्का था उसका वर्तमान बहुत उज्ज्वल है। स्वभावतः उनकी दृष्टि उन कारणों पर गई जिन्होंने हमें इतना निर्बल कर दिया और उन्हें इतना प्रबल बना दिया। पश्चिम के अन्ध अनुकरण की प्रवृत्ति हल्की हो गई और उसके गुणों की ओर ध्यान आकृष्ट हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में भारत में जो सर्वतोमुखी जागरण हुआ यह विचारपूर्वक अनुकरण की प्रवृत्ति भी उसका एक मुख्य साधन बना।

पश्चिम का बुद्धिवाद—जिस समय भारत में पश्चिम के विवेकपूर्ण अनुकरण की प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही थी उस समय विशेष रूप से इंगलैण्ड में और सामान्य रूप से सारे यूरोप में बुद्धिवाद का दौर जारी हो चुका था। बुद्धिवाद की विशेषता यह थी कि वह ईसाइयत की भ्रान्त धारणाओं का कठोर आलोचक था और विज्ञान तथा विधान पर आश्रित तत्त्वज्ञान का समर्थक था। उन दिनों का पाश्चात्य बुद्धिवाद एक तेज कुल्हाड़ा था जो सदियों से चले आ रहे भ्रमपूर्ण विचारों के कँटीले जंगलों को काटता जा रहा था। यह ठीक है कि उन कँटीले जंगलों के बीच-बीच में जो फलदार वृक्ष और फूलदार पौधे थे वह भी कट रहे थे परन्तु कँटीले जंगलों के नष्ट हुए बिना बाग का पनपना भी सम्भव नहीं था। उन दिनों इंगलैण्ड में डार्विन, हर्बर्ट स्पेंसर, हक्सले और मिल जैसे तत्त्ववेत्ताओं का प्रभाव बढ़ रहा था। जो भारतवासी पढ़ने या व्यापार करने विलायत जाते थे वे तो इन दार्शनिकों के प्रभाव में आते ही थे, जो इस देश में रहकर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करते थे वे भी उनके प्रभाव में आ जाते थे। परिणाम यह हुआ कि ईसा की उन्नीसवीं सदी के मध्य में भारत के शिक्षित समाज में भी एक जबर्दस्त बौद्धिक हलचल पै[दा] हो गई जो १८वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों की बौद्धिक दासता से सर्व[था] भिन्न थी। अब भारतवासियों में धीरे धीरे यह आत्म विश्वास उत्प[न्न]

हो गया था जो आत्म-सम्मान के बिना नहीं हो सकता।

सांस्कृतिक जागरण की व्यापकता—देश में १८वीं शताब्दी के अन्त में प्रकाश की जो हल्की-सी रेखा दिखाई दी थी वह निरन्तर बढ़ती गई और २०वीं सदी के मध्य भाग में हम उसे देश भर में व्यापक रूप से फैलता हुआ पाते हैं। केवल इतना ही नहीं कि वह जागृति देशभर में व्याप्त हो रही थी वह समाज के प्रत्येक अंग और प्रत्येक स्तर में फैल रही थी। हम उसके पूरे रूप को भली प्रकार समझने के लिये निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं—

१ धार्मिक और सामाजिक
२ शिक्षा सम्बन्धी संस्थायें
३ वैज्ञानिक उन्नति
४ ललित कलायें तथा
५ आर्थिक और राष्ट्रीय हलचल।

धार्मिक और सामाजिक—हम २४वें अध्याय में धार्मिक और सामाजिक सुधार के प्रयत्नों का संक्षिप्त विवरण दे आये हैं। अब हमें यह देखना है कि उन सब प्रयत्नों का जाति पर क्या प्रभाव पड़ा? जाति की संस्कृति का शिरोभाग उसकी धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियाँ हैं। उनमें जो परिवर्तन होता है वह जाति के सब अंगों में फैल जाता है।

आन्तरिक सुधारणाओं और बाहर के सम्पर्क का जाति की धार्मिक और सामाजिक दशा पर बहुत गहरा असर हुआ। धीरे-धीरे सभी वर्गों में यह भावना फैल गई कि केवल वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट होकर बैठ रहना भूल है। जो लोग सुधारकों तथा सुधारक संस्थाओं के प्रभाव में आ गये उनके अतिरिक्त पुराने ढंग पर चलने वाले लोगों के विचारों में एक प्रकार की हलचल मच गई। जो प्राचीनतम रूढ़ियाँ थीं उनके या तो रूप बदलने लगे अथवा उनके समर्थन के लिये वैज्ञानिक और काल्पनिक आधार ढूँढे जाने लगे। थियासोफिस्टों की ओर से यह प्रयत्न विशेष रूप से किया गया। अनेक पौराणिक कथाओं और उपाख्यानों को

कसगत बनान के लिय कल्पना की डोरी को बेतरह लम्बा खेंचा आने
गा। उसका मूल कारण यह था कि उन कथानको तथा उपाख्याना
को एतिहासिक सत्य मानना असम्भव हो गया था। यही विचार परि
वतन था जिसे हम सास्कतिक जागरण का नाम देते हैं। सुधारकों के
तर्कों ने प्राय सभी सम्प्रदायों और धर्मों के रूढिवाद को हिलाकर उन्हें
विचार करने के लिय मजबूर कर दिया था। पुराण बाइबल कुरान
और अन्य धर्म-ग्रन्थों की जो बौद्धिक व्याख्यायें उस युग म लिखी गईं वे
जागरण का स्पष्ट प्रमाण थी।

सामाजिक सुधारणा उस मौलिक धार्मिक सुधारणा का परिणाम
थी। वह अनेक रूप मे प्रकट हुई।

१ स्त्री शिक्षा का प्रचार—पर्दे का विरोध—राजा राममोहन राय
स लेकर जितने सुधारक हुए उन सभी ने स्त्रियो की दशा को उन्नत करं
की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। उनकी सबस बडी कठिनाइयाँ दो
थी। एक तो यह थी कि उन्हें शिक्षा का अधिकारी नही माना जाता
था और दूसरी थी पर्दे की प्रथा जिसने उन्हें सवथा अपाहिज बना रखा
था। प्रारम्भ म कुछ रूढिवादियो की ओर से विरोध हुआ परन्तु अन्त
म सनातन म सनातन सम्प्रदाय के अनुयायी भी स्त्रियो का शिक्षा देने
और पर्दे की घातक प्रथा को उठा देन के पक्ष म हो गये और तदनुसार
कार्य करने लगे।

इसी प्रकार विधवाओं क पुनर्विवाह का चलन और बाल विवाह का
विरोध भी लगभग सवसम्मत हो रहा था। इसका यह अथ नहीं कि
य सब सुधार एकदम व्यवहार म आ गये थे परन्तु यह निर्विवाद रूप से
कहा जा सकता है कि देश के लोकमत ने इन्हें स्वीकार कर लिया था।

जाति का एक बडा रोग जात पाँत और छुआछूत का रिवाज था
चिन्ता की बात यह थी कि उस रिवाज को शास्त्रों के प्रमाणो से विधे
सिद्ध करने का यत्न किया जाता था। सुधारका के प्रयत्न और बा
ससार के सपर्क के प्रभाव स उस रिवाज की जडें हिल गई। सुधा

समाजों द्वारा कहीं अछूतोद्धार कहीं दलितोद्धार और कहीं शुद्धि के नाम पर अछूत कहे जाने वाले वर्गों को उठाने और अपना बराबरी में लाने का प्रयत्न होने लगा। कई संस्थाओं ने उन्हें यज्ञोपवीत धारण करने और गायत्री पढ़ने तक के अधिकार दे दिये। जो सनातनता के मानने वाले धर्माध्यक्ष थे उन्होंने भी समय के प्रवाह के वशवर्ती होकर दलित लोगों को 'शिवोम' आदि वाक्यों के जाप का अनुमति दे दी। जातियों और उपजातियों के परस्पर भेद भाव धीरे-धीरे मिटने लगे। कई अन्तर्जातीय और अन्तर्प्रान्तीय विवाह हुए। इससे प्रभावित होकर सरकार को भी एक कानून पास करना पड़ा जिससे अन्तर्जातीय विवाह गैरकानूनी न माने जाएँ।

इस प्रकार १९वीं शताब्दी के अन्त में भारतीय संस्कृति में सर्वांगीण जागरण की चेतना उत्पन्न होकर देशव्यापिनी हो चुकी थी।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

शिक्षा तथा साहित्य के क्षेत्र मे

स्वतन्त्र शिक्षणालय—जागृति सारे देश के कलेवर म व्याप गई। धर्म और समाज के समान ही शिक्षा के क्षेत्र म नई चेतना का आविर्भाव हो गया। उन दिनो शिक्षा का यन्त्र साम्हा आने सरकार के हाथ म था। वैटिक ने जिस उद्देश्य से शिक्षा प्रणाली म परिवर्तन किया था और मकाले ने जिसका सपना देखा था वह बहुत कुछ पूरा हो रहा था। नीचे से ऊपर तक शिक्षा का कारखाना मानो सरकारी मशीन के पुर्जों को बनाने और अंग्रेजी माल के ग्राहक पैदा करने के लिये चल रहा था। जो स्कूल या कालेज पूरी तरह सरकारी नही थे अर्द्ध सरकारी या धार्मिक सस्थाओ के थे उन्हे भी सरकारी शिक्षा विभाग के पाँव के नीचे म निकलना पडता था। वहा अंग्रेजी प्रधान पाठविधि स्वीकार करनी पडती थी क्योकि सरकार द्वारा अभिमत डिग्रियो के बिना कही प्रवेश नही हो सकता था। जब जाति म राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ और आत्म सम्मान जागा तो ऐसे शिक्षणालय भी स्थापित हुए जो सरकार की बनाई शिक्षा विषयक चारदीवारी म बिलकुल बाहर थे।

शान्ति निकेतन—ऐसे शिक्षणालयो म से जिनम सरकारी साँचे का छोडकर शिक्षा देने का यत्न किया गया था दो मुख्य थे। वे थे बोलपुर म शान्ति निकेतन और हरिद्वार म गुरुकुल कागडी। सन् १६२० के पश्चात् असहयोग आन्दोलन आरम्भ होने पर तो अनेक स्वाधीन शिक्षणालय स्थापित हो गये थे परन्तु उससे पूर्व जिस काल का वर्णन हम कर रहे हैं उसम सरकार के हस्तक्षेप से सर्वथा स्वतन्त्र ये दो ही बडे विद्यालय थे।

शान्ति निकेतन कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर की कल्पना और भावना

का मूलरूप था कविवर रवीन्द्रनाथ न केवल महान कवि थे महान विचारक भी थे। प्रारम्भ में इस विद्यालय में कविवर ने शिक्षा सम्बन्धी कई बहुत महत्वपूर्ण और नये परीक्षण जारी कर दिये थे। छात्रों पर कोई बाह्य नियन्त्रण नहीं रखा गया था। उनसे स्वयं अपने लिए नियम बनाने को कहा जाता था। कविवर पथ-प्रदर्शक बनते थे। जो मामले उठते उन्हें लड़के ही निपटाते थे। जब उसी लड़के को बनाया जाता था जो आयु में ऊपर की आयु का हो और तब तक निकेतन में रह चुका हो। कविवर ने अपने विद्यालय का नाम न स्कूल रखा और न यूनिवर्सिटी अपितु शान्ति निकेतन रखा यह उनकी स्वाधीन वृत्ति का प्रतीक था।

निकेतन के शिक्षाक्रम में पुस्तक शिक्षा के साथ-साथ संगीत, चित्र-कारी आदि कलाओं की शिक्षा अनिवार्य थी। निचली श्रेणियों में शिक्षा का माध्यम बंगला था अन्तिम दो श्रेणियों में अंग्रेजी का प्रयोग किया जाता था। विद्यालय का प्रबन्ध अध्यापकों की एक सभा के हाथ में था जिनके प्रमुख स्वयं कविवर थे।

समाज सेवा को भी शिक्षा क्रम का ही अंग माना जाता था। ग्रामवासियों को स्वच्छ और स्वस्थ रहने की शिक्षा देने के लिए सप्ताह में एक-आध बार अध्यापक और छात्र मिलकर जाते थे स्वयं उनको दवा देते थे और उन्हें अच्छी बातें सिखाते थे। उन समय निकेतन का रहन-सहन सादा था। मकान कम थे, पढ़ाई प्रायः वृक्षों के नीचे होती थी। कविवर ने प्रारम्भ में शान्ति निकेतन को भारतीय संस्कृति का पालना बनाने की कल्पना का यत्न किया था। उनका वातावरण प्राकृतिक था बनावटी नहीं। सारी संस्था के प्राण और गुरु स्वयं कविवर थे। प्रातः काल और सायंकाल बुद्ध भगवान प्रभु की प्रार्थना के भजन किये जाते थे। बाद में यह शिक्षणालय विश्वभारती के रूप में परिणत हो गया और भारत में स्वराज्य हो जाने के पश्चात् केन्द्रीय सरकार द्वारा सचालित यूनिवर्सिटी बन गया।

गुरुकुल कांगड़ी तथा अन्य गुरुकुल—गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना

सन् १६०० म हुई थी। इसके संस्थापक महात्मा मुंशीरामजी (स्वामी श्रद्धानंदजी) थे। इसकी भी मौलिक कल्पना तो वही थी जो शान्ति निकेतन की थी। भेद यह था कि इसम ललित कलाओं को वह स्थान प्राप्त नहीं था जो शान्ति निकेतन म। उनके स्थान पर भारत की प्राचीन संस्कृति के साथ-साथ पाश्चात्य विज्ञानादि विद्याओं के अध्यापन पर अधिक बल दिया जाता था। गुरुकुल सरकारी नियन्त्रण से सर्वथा स्वतन्त्र था।

हरिद्वार के समीप गंगा के तट पर जहाँ इस संस्था का विकास हुआ यह प्राकृतिक दृष्टि से भारत के सुन्दरतम स्थानों म है। उस सर्वथा एकान्त स्थान म प्राचीन गुरु शिष्य परम्परा के अनुसार विद्यालय की स्थापना का यह उद्देश्य रखा गया था कि भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली को पुनर्जीवित किया जाय। रहन-सहन सर्वथा सादा था और ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन आवश्यक था। प्रारम्भ से ही गुरुकुल म संस्कृत को प्रधानता दी गई थी और हिन्दी को सब विषयों की पढ़ाई का माध्यम बनाया गया था।

इस संस्था का प्रारम्भ फूस के छप्परों म केवल चार श्रेणियों से किया गया था। १६१६ म इसने विश्वविद्यालय का रूप धारण कर लिया। उस समय इसम वैदिक और अर्वाचीन संस्कृत की शिक्षा के साथ साथ अर्वाचीन विज्ञान इतिहास कृषिशास्त्र आदि की शिक्षा दी जाती थी। प्रायः सभी अर्थों म गुरुकुल उस समय की प्रचलित सरकारी शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध शरीरधारी प्रतिवाद था।

गुरुकुल कांगड़ी के पश्चात् उसी शैली पर और उन्हीं आदर्शों के अनुसार वृन्दावन सूपा हरिद्वार आदि अन्य अनेक स्थानों पर गुरुकुलों तथा ऋषिकुलों की स्थापना हुई। जो सरकारी नियन्त्रण से सर्वथा मुक्त थे।

कविवर रवीन्द्रनाथ टगोर और स्वामी श्रद्धानन्द दोनों ही समाज सुधारक थे। उनका विश्वास था कि छुआछूत के रोग का विनाश किये बिना देश का कल्याण नहीं हो सकता इस कारण इन दोनों संस्थाओं म

जातपाँत का कोई प्रतिबन्ध नहीं माना जाता था। यह बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ की बात है जबकि अभी देश मे रूढ़ियो का जाल बुरी तरह फैला हुआ था और स्वतन्त्र शिक्षा और मनुष्यमात्र में भ्रातृभाव जैसे विचारों को कुफ्र माना जाता था।

उस युग में इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक ऐसे शिक्षणालयों की स्थापना हुई जो यद्यपि सरकारी बन्धन से सर्वथा मुक्त तो नहीं थे परन्तु इनमें कुछ अधिक भारतीयता लाने का यत्न किया गया था। डी० ए० वी० कालेज, हिन्दू यूनिवर्सिटी, पूना का महाविद्यालय आदि शिक्षणालयों की मूल भावना यह थी कि उनमें शिक्षाक्रम को अधिक भारतीय बनाया जाय। महाराष्ट्र का समर्थ विद्यालय भी उसी भावना का परिणाम था परन्तु खेद है कि वह देर तक न चल सका।

साहित्यक जागरण—उस समय साहित्य में तो मानो उफान आ गया। १६वीं शताब्दी का उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी का प्रथम चरण भारत के साहित्यिक उत्थान के लिये सदा स्मरणीय रहेंगे। साहित्यिक प्रतिभा ऐसे उठी मानो सिर पर से भारी पहाड़ का बोझ उतर गया हो।

बंगला साहित्य में नवयुग लाने का श्रीगणेश करने का श्रेय भी राजा राममोहन राय को है। उनके धर्म सम्बन्धी ग्रन्थों ने बंगला में अर्वाचीन गद्य का सूत्रपात किया। उनके समय में ही बंगला में पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हो गया था। आगे चलकर कई उत्तम सामयिक पत्र निकलने लगे। यूँ बंगला साहित्य का नवोत्थान तो उसी समय से आरम्भ हो गया था। परन्तु उसे देशव्यापी गौरव उस समय प्राप्त हुआ जब बा० बंकिमचन्द्र चटर्जी ने उपन्यासों की रचना प्रारम्भ की। उनके उपन्यासों से न केवल बंगला भाषा का साहित्य समृद्ध हुआ देश की राष्ट्रीय जागृति को भी बहुत सहायता मिली। उनमें अंग्रेजों ने भारत को जीतने के समय जो अत्याचार किये थे उनका सजीव प्रदर्शन किया गया था। राष्ट्रीयता उनमें ओत प्रोत थी। देश के उपन्यास-क्षेत्र में बंकिम बाबू के उपन्यासों ने एक नये युग का प्रारम्भ कर दिया। बंगला के प्रसिद्ध समाज

सुधारक श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर दर्जनों शिक्षा सम्बन्धी और साहित्यिक रचनाओं के निर्माता थे। कुछ समय पीछे योगेन्द्रचन्द्र गुप्त दीनबन्धु मित्र द्विजेन्द्रलाल राय आदि अनेक नाटककारों ने बंगला साहित्य को अपनी कृतियों से समृद्ध किया। माइकेल मधुसूदन दत्त के काव्यों और एतिहासिक नाटकों की भी देश में खूब ख्याति हुई। इस प्रकार बंगला के साहित्याकाश में अनेक जाज्वल्यमान नक्षत्र उदित हुए, जिनमें से कविवर रवीन्द्रनाथ टगोर और शरतचन्द्र बोस की साहित्यिक ज्योति सबसे अधिक उज्ज्वल थी। उनका प्रभाव देशव्यापी हो गया। उसी युग में महाराष्ट्र में भी नवीन साहित्यिक चेतना ने जन्म लिया। उस प्रान्त की अन्य सब प्रकार की जागृतियों की भाँति साहित्यिक जागृति का अधिकतर श्रेय भी प. विष्णु शास्त्री चिपलूणकर और लोकमान्य तिलक का है। चिपलूणकर ने अपने ओजस्वी निबन्धों और लोकमान्य ने केसरी द्वारा एक नये बलिष्ठ और द्रुतगामी मराठी वाङमय को जन्म दिया।

दक्षिण की तामिल तेलगू आदि भाषाओं में जीवन-संचार करने वाले साहित्य की रचना उस युग में आरम्भ हो गई थी। तामिल में महाकवि सुब्रह्मण्य भारती और तेलगू में कवि सम्राट विश्वनाथ सत्य नारायण का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि पूर्व सूरियों ने अपने प्रयत्न से नये जीवनपूर्ण प्रगतिशील साहित्य का जो मार्ग बनाया उस पर चलकर अनेक कवियों लेखकों और सम्पादकों ने देश के नवीन सांस्कृतिक और राष्ट्रीय जागरण में सहयोग दिया।

उर्दू का कविता साहित्य भी जो मुगलों के अन्तिम दिनों में केवल प्रेम और निराशा का फड़कता हुआ पुलिन्दा रह गया था नये जागरण की गर्मी पाकर खिल उठा। जागरण युग के उर्दू कवियों में हाली और इकबाल के नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। उन्होंने न केवल उर्दू साहित्य की नवीन दिशा का प्रदर्शन किया सामान्य रूप से देशवासियों और विशेषतः मुसलमानों में नई चेतना का संचार भी किया।

इस युग का तेजस्वी प्रभाव ऐसा प्रबल था कि उससे संस्कृत साहित्य भी अलग न रहा। इन्दौर के श्रीपाद शास्त्री ने गद्य में श्री रामदास स्वामी छत्रपति शिवाजी महाराणा प्रताप आदि के चरित लिखे और महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा ने भारतानुवर्णनम नाम का इतिहास लिखा। संस्कृत में अनेक पत्र तथा पत्रिकायें भी निकलने लगीं।

इस प्रकार मानसिक दासता की जो प्रतिक्रिया धार्मिक और सामाजिक जागृति के रूप में पैदा हुई थी वह शीघ्र ही शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में भी फैल गई।

उनतीसवाँ अध्याय

वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक उत्थान

वैज्ञानिक—युग-युगान्तरों के इतिहास में यह एक सौभाग्य की बात रही है कि भारतीय संस्कृति कभी बन्ध्या नहीं हुई। संकट आने पर भी उसमें प्रतिकार करने योग्य महापुरुषों को उत्पन्न करने की शक्ति बनी रहती है। इस वैज्ञानिक युग में उसने विज्ञान के ऐसे तत्त्वदर्शी विद्वान भी उत्पन्न कर दिये जिन्होंने संसार में ख्याति लाभ की। उनमें से प्रथम सर डा० जगदीशचन्द्र वसु महोदय थे। वसु महोदय ने वैज्ञानिक परीक्षणों से यह सिद्ध करके विज्ञान के पण्डितों को चमत्कृत कर दिया कि जिन कारणों से मनुष्य में सुख-दुःख और अनुकूलता प्रतिकूलता की अनुभूति होती है वही कारण वनस्पतियों तथा अन्य भौतिक पदार्थों पर भी वैसा ही असर करते हैं। ये कलकत्ते में विज्ञान के उपाध्याय थे। जब उनके परीक्षणों की ख्याति विलायत में पहुँची तब पहले तो वहाँ के विज्ञान विशेषज्ञों ने विश्वास नहीं किया परन्तु जब उन्होंने स्वयं विलायत जाकर परीक्षणों द्वारा अपनी स्थापना को सिद्ध कर दिया तब सबको मान लेना पड़ा कि एक भारतीय वैज्ञानिक भी संसार को नया ज्ञान दे सकता है। यह ज्ञान उनकी दृष्टि में नया था परन्तु भारतीय शास्त्रों के अनुसार पुराना है। उनमें तो चेतन और अचेतन दिखाई देने वाले सब प्रकार के पदार्थों में चेतना की कल्पना अत्यन्त प्राचीन है।

दूसरे महान् वैज्ञानिक जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की डा० आचार्य चन्द्रशेखर वेंकट रमन थे।

कुछ महापुरुषों का भविष्य झूले में ही प्रकट हो जाता है। उनकी असाधारण प्रतिभा के चिह्न बचपन में ही सूर्य की किरणों की भाँति चमकने लगते हैं। भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक नोबल पुरस्कार विजेता

ग्रौर ग्राध्यात्मिक ग्राचाय डा० चन्द्रशेखर वक्ट रमन ने १२ वर्ष की ग्रायु म सम्मानपूवक मट्रिक परीक्षा पास की १४ वय की ग्रायु मे एफ० ए० परीक्षा दी तो पहले दर्जे में उत्तीण हुए ग्रौर १६ वय की ग्रायु म गणित ग्रौर विज्ञान जसे कठिन विषयों में ग्रानर सहित बी० ए० की परीक्षा म सफल हुए। उस वष सारी यूनिवर्सिटी म केवल ग्राप ही थे जो प्रथम श्रणी प्राप्त कर सके।

उस ग्रायु म भी ग्रापके लिय परीक्षाग्रो का पास करना गौण था ग्रौर गणित तथा विज्ञान म नई खोज करना मुख्य था। ग्रापका दिमाग सदा घटनाग्रों के मूल कारणो को जानने मे लगा रहता था। ग्रापने १६ वय की ग्रायु म एम० ए० परीक्षा मे ग्रभूतपूव सफलता प्राप्त की। ग्राप न केवल विज्ञान म सारे विश्वविद्यालयो म प्रथम रहे बल्कि उससे पूव के उस विषय क सभी उत्तीण छात्रो के प्राप्त ग्रकों को मात दे दी। ग्रापकी इस सफलता का एक बडा कारण यह था कि ग्रापकी प्रतिभा सदा उन सच्चाइयो तक पहुँचने का यत्न करती ग्रौर प्राय सफल भी हो जाती जो पश्चिम के वैज्ञानिको के लिये पहलियाँ बनी हुई थी।

ऐसे प्रतिभाशाली महापुरुष का जन्म ७ नवम्बर १८८८ को दक्षिण भारत के त्रिचनापल्ली नगर मे हुग्रा था। वेंकट रमन के पिता का नाम चन्द्रशेखर ग्रय्यर था। वेंकट रमन के जन्म के समय वह स्थानीय हाई स्कूल म ग्रध्यापक थे। उसके पश्चात ग्रय्यर महोदय न भौतिक विज्ञान म बी ए० परीक्षा पास की ग्रौर कालेज म प्रोफसर हो गये। वेंकट रमन की माता पावतीजी ने एक एस परिवार म जन्म लिया था जो ग्रपनी धार्मिक प्रवृत्तियो ग्रौर सस्कृत के पाडित्य के कारण दक्षिण भर में प्रख्यात था। इस प्रकार वेंकट रमन न माता पिता की गोद म धम ग्रौर विज्ञान की घुट्टी का पान कर लिया था।

जिस ग्रायु म साधारण युवक महाविद्यालय की परीक्षाग्रो म उलझ हुए होते हैं उसम श्री वेंकट रमन एम० ए० ग्रौर ग्रथ-विभाग की परीक्षाग्रो म ग्रसाधारण सफलता प्राप्त करके ग्रथ विभाग म डिप्टी

एकाउण्टेण्ट जनरल के पद पर नियुक्त हो गये।

आप कई वर्षों तक कलकत्ते के अर्थ विभाग में उच्च पदाधिकारी का काय करते रहे। वहाँ आपको अनुसन्धान का दुर्लभ अवसर मिल गया। वहाँ भारतीय विज्ञान परिषद नाम की एक प्रसिद्ध संस्था थी। भारत के बड़े-बड़े वैज्ञानिक उसके सदस्य थे। एक दिन ट्राम में सफर करते हुए आपको उसका साइनबोर्ड दिखाई दे गया। श्री वेंकट रमन तो ऐसी संस्था की तलाश में ही थे। मानो प्यासे को कुआँ मिल गया। आप वहीं ट्राम से उतर गये और खड़े होकर चिरकाल तक उस साइनबोर्ड को देखते रहे। वह एक ऐसी संस्था की तलाश में ही थे। वह सोचने लगे कि क्या सचमुच भारत में ऐसी संस्था है! आप बड़ी उत्सुकता से संस्था के कार्यालय में जा पहुँचे। सौभाग्यवश वहाँ उस समय बंगाल के प्रमुख शिक्षाचार्य सर आशुतोष मुखर्जी संस्था के मन्त्री डा० अमितलाल सरकार और अन्य बहुत से विद्वान् उपस्थित थे। आपके वहाँ पहुँचने पर और अपना परिचय देने पर सभी उपस्थित सदस्य अत्यन्त प्रसन्न हुए। आपने जब उन्हें अपने मौलिक आविष्कारों का विवरण सुनाया तो उन लोगों की प्रसन्नता प्रेम में परिणत हो गई। श्री वेंकट रमन भारतीय विज्ञान परिषद् के सदस्य बना दिये गये।

रमन किरणों के अन्वेषण के अतिरिक्त आपके बड़े-बड़े अन्वेषण निम्नलिखित क्षेत्रों में हुए हैं १ शब्द विज्ञान २ प्रकाश और रंग ३ समुद्र जल का नीला रंग ४ किरण ५ चुम्बकीय अनुसन्धान। अन्य छोटे-छोटे बहुत से अन्वेषणों की संख्या दर्जन से अधिक है। इन परीक्षणों में विशेषता यह है कि अन्य सभी परीक्षणों का मूल 'रमन प्रभाव' सम्बन्धी अन्वेषण है। विज्ञान में यह एक नई बात थी। बहुत से प्रश्न जो इससे पूर्व बहुत जटिल समझे जाते थे रमन के आविष्कार से सरल हो गये। विज्ञान के संसार ने श्री रमन के इस चमत्कारी आविष्कार का बड़े आदर से स्वागत किया जिसका परिणाम यह हुआ कि आपको पहले १९३० के नवम्बर मास में लन्दन की सुप्रसिद्ध रायल

सोसायटी न 'ह्यूजज पदक' म सम्मानित किया और फिर उसी वष क न्सिम्बर म ससार का सबस बडा बौद्धिक पुरस्कार 'नोबल प्राइज' न्यि जान की घोषणा हुई।

इसक अतिरिक्त आप ससार का अनक प्रतिष्ठित वज्ञानिक सस्थाआ क सम्मानित सस्य एव आनरेरी फला रह हैं। इनम कुछ क नाम यहाँ न्यि जात हैं—रायल फिलासफिकल सोसायटी ग्लासगो रायल आयरिश एकेडेमी ज्यूरिच फिजीकल सोसायटी डयूटश एकडमी आफ म्यूनिक, हगरियन एकेडमी आफ साइसज इण्डियन मथमटिकल सोसायटी इण्डियन कमिकल सोसायटी नेशनल इस्टीच्यूट आफ साइस इण्डिया और इण्डियन साइस काग्रस आदि आदि।

डा० रमन स मिलन वालों पर उनकी नम्रता और सादगी का बहुत अद्भुत प्रभाव पड़ता है। पुरान शास्त्रकार मुनियों की भाँति आपका रहन-सहन बहुत ही सादा और तपामय है। विज्ञान आपके लिय कमाई का साधन नहीं अपितु जीवन की उच्चतम साधना है।

उस समय के तीसर प्रसिद्ध वज्ञानिक डा शान्तिस्वरूप भटनागर थ।

डा सर शान्तिस्वरूप भटनागर का जन्म पजाब क भड़ा कस्ब म हुआ था। आपके पिता मा० परमेश्वरीसहाय स्कूल म मास्टर थ। जब परमेश्वरीसहायजी की मृत्यु हुई उस समय शान्तिस्वरूपजी की अवस्था केवल आठ मास की थी। यदि शान्तिस्वरूपजी क नाना मुन्शी प्यारेलाल जी बच्चे की रक्षा तथा शिक्षा का उत्तरदायित्व अपन ऊपर न लेते तो बच्च की माता क लिय उसका पालन-पोषण एक समस्या हो जाता।

स्कूल म बालक शान्तिस्वरूप की बहुत ही होशियार लड़का म गिनती थी। वह अध्यापकों से ऐसे-ऐसे प्रश्न करता था कि उनसे लिय उत्तर देना कठिन हो जाता था। विज्ञान की ओर शान्तिस्वरूप का बचपन से ही झुकाव था। वह कबाड़िया क यहाँ स काँच और धातुआ

छोटी छोटी चीजें खरीदकर अपने कमरे में साइंस के परीक्षण करता रहता था।

इसी विधि से भानुमति का कुनबा जोड़कर भावी विज्ञानाचार्य ने स्कूल में अपने कमरे में एक स्वनिर्मित टेलीफोन लगाकर अपने हेड मास्टर लाला रघुनाथसहायजी को आश्चर्यान्वित कर दिया था। १९११ ई० में १७ वर्ष की आयु में शान्तिस्वरूपजी ने पंजाब यूनिवर्सिटी से प्रथम श्रेणी में मैट्रिक परीक्षा पास की।

कालेज में प्रवेश होने पर आपका पंजाब के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री प्रोफेसर रुचिराम साहनी से परिचय हुआ। साहनी महोदय में यह विशेष गुण था कि वह नवयुवकों में से होनहार छात्रों को चुन लिया करते थे और उन्हें विकास का अवसर देने के लिये भरपूर प्रयत्न करते थे। शान्तिस्वरूपजी का सम्पर्क होने पर उन्होंने यह पहचान लिया कि यह नवयुवक किसी दिन प्रसिद्ध विद्वान बनेगा। कालेज की शिक्षा के दिनों में शान्तिस्वरूपजी पर प्रोफेसर साहनी का संरक्षा का हाथ सदा बना रहा। वह स्वयं भी पढ़ाई में असाधारण परिश्रम करते थे। अच्छा मार्ग प्रदर्शन और एकाग्रता से परिश्रम दोनों का सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि शान्तिस्वरूपजी अपने दर्जे में बहुत आगे रहते थे। कालेज की प्रायः सभी परीक्षाएँ उन्होंने प्रथम श्रेणी में पास कीं। एम० एस-सी० की परीक्षा आपने दयालसिंह कालेज से पास की। विज्ञान में आपकी अद्भुत प्रतिभा से प्रभावित होकर दयालसिंह कालेज के ट्रस्टियों ने निश्चय किया कि आपको विलायत जाकर विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये छात्रवृत्ति दी जाय। १९१९ में आप लन्दन जाकर वहाँ की यूनिवर्सिटी के 'सर विलियम रैम्ज इंस्टीट्यूट' में अनुसन्धान की शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रविष्ट हो गये। वहाँ के प्रोफेसर डोनन आपकी असाधारण प्रतिभा से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने प्रिवी कौंसिल के वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अन्वेषण विभाग की ओर से शान्तिस्वरूपजी को ३०० रुपये मासिक की छात्रवृत्ति दिलवा दी। १९२१ में आपको लन्दन

विश्वविद्यालय की ओर से डी एस-सी की उपाधि प्राप्त हुई।

देश और विदेश के वैज्ञानिक छात्रों में डा० शान्तिस्वरूप भटनागर की ख्याति इतनी विस्तृत हो गई कि अब उनका पंजाब प्रदेश में सीमित रहना असम्भव हो गया। १९४० में भारत सरकार ने आपको 'बोर्ड आफ इण्डस्ट्रियल एण्ड साइंटिफिक रिसर्च' का डायरेक्टर नियुक्त किया। यूरोप के दूसरे महायुद्ध के कारण विदेशों से रासायनिक तथा उद्योग सम्बन्धी अन्य वस्तुओं का आयात लगभग बन्द हो गया था। इसी कमी को पूरा करने के लिये आवश्यक था कि भारत के उद्योगपतियों को उन सब वस्तुओं के उत्पन्न करने में सहायता दी जाय। इस इन्स्टीटयूट की स्थापना का यही उद्देश्य था। डा० शान्तिस्वरूप भटनागर इसके डायरेक्टर नियुक्त किये गये। केन्द्र में आकर डा० भटनागर की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई। आपको देश की औद्योगिक उन्नति करने का जो स्वर्णिम अवसर मिला आपने उसका पूरा लाभ उठाया। आपके अन्वेषणों और परामर्श से देश के शिल्प और उद्योग को उन कठिनाइयों के हल करने में बहुत मदद मिली जो विज्ञान में पिछड़े एक देश के सामने आया करती हैं।

१९४ के पश्चात डा० भटनागर की ख्याति देश और विदेश के वैज्ञानिकों और औद्योगिक क्षेत्रों में निरन्तर बढ़ती गई। भारत का शायद ही कोई ऐसा विश्वविद्यालय हो जिसने आपको 'आनरेरी' उपाधि द्वारा अथवा विशेष व्याख्यानों के लिये निमन्त्रित करके सम्मानित न किया हो।

राष्ट्रीय सरकार ने विश्वविद्यालयों की आर्थिक आवश्यकताओं को परखने और उनके शिक्षा-स्तर की देखभाल के लिये १९५३ में एक यूनिवर्सिटी ग्रान्ट्स कमीशन की स्थापना की तो उसके अध्यक्ष डा० शान्तिस्वरूप भटनागर बनाये गये। कुछ समय बाद उस कमीशन को स्थिरता प्रदान करने के लिये केन्द्रीय सरकार ने संसद में एक बिल पेश करने का निश्चय किया तब भी यह समझा जा रहा था कि उसके अध्यक्ष डा०

शान्तिस्वरूप भटनागर होग। परन्तु विधाता का कुछ और ही मंजूर था। वह बिल अभी प्रारम्भिक दशा म ही था कि अपनी वज्ञानिक योग्यता से मातृभूमि के मस्तक को ऊँचा करन वाला यह नररत्न १ जनवरी १९५५ को इस ससार स विदा हो गया। डा भटनागर क इस अकाल निर्वाण स दश की कई वज्ञानिक सस्थाए ही निधन नही हुइ बीसियो देश क नौनिहालो की शिक्षा की नौका भी मँझधार म रह गई जो डा० भटनागर की मौन सहायता क भरोसे पर ही शिक्षा को पूण करने की आशा रखते थ।

इसके अतिरिक्त उसी काल म सर पा सा राय श्री मेघनाद साहा तथा श्री बीरबल साहनी आदि अनक अन्य विद्वानो ने भी विज्ञान के क्षेत्र म बहुत ख्याति प्राप्त की और ससार को नया ज्ञान दिया।

आध्यात्मिक—रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवन्द्रनाथ ब्रह्मसमाज के प्रख्यात नेता थ। वे बहुत ही साधुवृत्ति के महात्मा थ। घर म बहुत कम रहते थ। प्राय एकान्त पवतीय स्थानो म रहकर स्वाध्याय लखन और साधना म समय व्यतीत करत थ। उनकी पत्नी प्राय रोगी रहती थी। घर का सब कामकाज रवीन्द्रनाथ के बडे भाइयो क हाथ म रहा। ठाकुर रवीन्द्रनाथ का जन्म ७ मई १८६१ ई० को हुआ। प्रारम्भ मे ही उनकी शिक्षा दीक्षा की व्यवस्था महर्षि क तीसरे पुत्र हेमेन्द्रनाथ के निरीक्षण म होती रही। जो अध्यापक लोग पढान आते थ उनके काम की देखभाल हेमेन्द्रनाथ ही करते थ। कविवर न आत्मकथा लिखी है उसमे उन्होन बतलाया है कि पाठ्य-पुस्तको तथा स्कूल की पढाई मे उन्हें बिलकुल रुचि नही थी। या तो वह बहुत छोटी आयु से ही सोचन और लिखने लग थे परन्तु परीक्षाओ के डर म पड़ना उन्ह पसन्द नहीं था। प्रतिभा उन्हें यशस्वी पिता से प्राप्त हुई थी और शिक्षा का अवसर उच्चवश शाली कुल के कारण मिल गया। शिक्षा का यह क्रम १७ वष की आयु तक जारी रहा। उन वर्षों म रवीन्द्रनाथ न मुख्य रूप से बगला और अग्रजी भाषा म कुशलता प्राप्त कर ली। अन्य विषयो की ओर उनकी

विशेष रुचि नहीं थी। सरकारी यूनिवर्सिटियों के साँचे में ढालने से कोई लाभ न देखकर परिवार के बुजुर्गों ने उन्हें शिक्षा पूरी करने के लिए १८७८ में इंगलैण्ड भेजा। वहाँ दो वर्ष तक निवास करके उन्होंने अपनी अंग्रेजी की योग्यता बढ़ाने के साथ-साथ विशाल संसार का अनुभव भी प्राप्त किया। कविवर के मानसिक क्षेत्र की व्यापकता में इन दोनों ही घटनाओं से सहायता मिली है। सीमाबद्ध शिक्षणालयों के शिकंजे में न पड़ने के कारण वह संकुचित मनोवृत्ति से बचे रहे और सर्वथा स्वतन्त्र रूप से भारत से बाहर जाकर विश्व को देखने का अवसर मिलने से उनके लेखों, कविताओं में और रचनात्मक कार्यों में भी विश्व-बन्धुत्व की भावना को मुख्यता मिल गई।

रवीन्द्रनाथ के जिस काव्य ने कवियों की श्रेणी में उनकी गणना कराई, वह 'साध्य संगीत' था। जब वह प्रकाशित हुआ, तब आपकी आयु २१ वर्ष की थी। बंगाल के प्रसिद्ध लेखक रमेशचन्द्र दत्त की लड़की की शादी में बंगाल के बहुत से प्रसिद्ध महानुभाव एकत्र हुए थे। वहाँ बंग भाषा के उपन्यास सम्राट् बंकिमचन्द्र चटर्जी भी उपस्थित थे। जब रवीन्द्रनाथ को बंकिम बाबू ने वहाँ देखा तो उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा— यह साहित्य के अन्तरिक्ष का उदित होता हुआ सितारा है। कविवर ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि उन्हें उन प्रारम्भिक दिनों में साहित्यिक रचना करने का विशेष प्रोत्साहन भाई ज्योतीन्द्रनाथ और उनकी पत्नी से मिला। वे दोनों न केवल युवक कवि की प्रवृत्तियों को बढ़ावा देते थे, सहानुभूतिपूर्ण आलोचना द्वारा उसकी कविताओं को सुसंस्कृत भी करते रहते थे।

१९१३ में कविवर रवीन्द्रनाथ को 'नोबल प्राइज' दिया गया। यह पुरस्कार उस व्यक्ति को दिया जाता है, जो उस समय किसी दृष्टि से सबसे अधिक गुणवान हो। उस वर्ष कविवर के 'गीतांजलि' नामक कविता-संग्रह को संसार का सर्वोत्कृष्ट काव्य माना गया। कविवर को यह पारितोषिक मिलने का संक्षिप्त इतिहास यह है कि इंगलैण्ड के प्रसिद्ध

चित्रकार मिस्टर रौथन स्टीन ने जब रवीन्द्रनाथ की कुछ कहानियां और कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद पढ़े तो उसे यह अनुभव हुआ कि उनका रचयिता कोई महाकवि होना चाहिए। उन्ही दिनों कविवर इंगलण्ड गये और अपनी बंगला कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद वहां प्रसिद्ध विद्वानों को दिखाये। सभी ने उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की। इंडिया सोसाइटी ने उन ग्रन्थों को सुन्दर रूप में प्रकाशित करके यूरोप में उनका प्रचार किया। जिन मित्रों ने पश्चिम के विद्वानों तक गीतांजलि को पहुँचा कर नोबल प्राइज के दिये जाने में सहायता दी उनमें से श्रीयुत सी एफ० एण्डरूज का नाम मुख्य है। 'नोबल प्राइज' के रूप में कवि को स्वीडिश एकडमी से जो प्रभूत धन राशि प्राप्त हुई वह उन्होंने अपनी प्रिय संस्था शान्ति निकेतन को प्रदान कर दी।

१९१५ में जब महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका से अपने फौनिक्स आश्रम के छात्रों को भारतवर्ष में भेजा तब पहले ये छात्र कुछ महीनों तक गुरुकुल कांगड़ी में रहे और फिर कुछ सप्ताहों तक शान्ति निकेतन में। दोनों महापुरुषों की प्रथम भेंट उसी अवसर पर हुई। गांधीजी ने कवि को गुरु धारण कर लिया और 'गुरुदेव' कहकर सम्बोधित करने लगे और कवि ने गांधीजी को महात्मा की पदवी से विभूषित किया।

अंग्रेजों के राज्य काल में शायद किसी अन्य भारतवासी को संसार के अन्य देशों में ऐसा शाही सम्मान प्राप्त नहीं हुआ जैसा कवीन्द्र रवीन्द्र नाथ को। अमेरिका इंगलण्ड फ्रांस इटली जर्मनी मारवे चाल्कनदेश ग्रीस चीन जापान मिश्र ईरान इराक मलाया सीलोन जावा बाली और कनाडा आदि देशों में कवि निमन्त्रण पाकर गये और अपना सन्देश सुनाया। सब जगह की जनता ने आपका हार्दिक स्वागत किया अनेक देशों में वहाँ के प्रधान शासकों ने आपका राजोचित सम्मान किया।

'सान्ध्य संगीत' के दो वर्ष बाद 'प्रभात संगीत' प्रकाशित हुआ। उसका बंगाल में अपूर्व स्वागत हुआ। उसके पश्चात् तो पत्र पत्रिकाओं में आपकी कविताओं नाटकों और निबन्धों का तांता-सा लग गया।

ममात्री स निकलती हुई जलधारा का तरह आपकी लखनी म रचनाओं का धारा बहने लगी।

रवीन्द्रनाथ की रचनाओ में प्रारम्भ स ही हम विचारा का तीन प्रवृत्तियाँ पात हैं। वह धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों क सवथा विरोधी थ। इस दृष्टि स वह पक्क सुधारक थ। उनकी सभी रचनाओं में सुधार का समथन भासित होता है। उनक सुधार प्रम की एक विशषता यह थी कि उन्ह सनता के वह कट्टर शत्रु थ। प्रथम ही मानव का मूल है यह उनका दृढ़ सिद्धान्त था जो उनक उपन्यासा तथा नाटकों म स्पष्ट रूप म ध्वनित होता है।

उनका विचारधारा विशुद्ध राष्ट्रीय था। वह यद्यपि अपन समय की भारतीय राजनीति स व्यावहारिक रूप म अलग रह परन्तु यह निर्विवाद बात है कि रूप म राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए जो संग्राम चल रहा था उसक साथ उनका पूण सहानुभूति था। जब कभी वह सामयिक राजनीति के सम्पक में आत तब उनकी राष्ट्रीय भावना सूय की तरह चमक उठता।

इस दूसरा मानसिक प्रवृत्ति क साथ-साथ प्रारम्भ स ही रवीन्द्रनाथ का रचनाओ म हम एक विशिष्ट विचारधारा का मिश्रण पात हैं। उस विचारधारा का सक्षिप्त वणन कालिदास क निम्नलिखित दा पदों में किया जा सकता है—

पुराणमित्येव न साधु सवम न चापि सव नवमित्यवद्यम।

अर्थात कोई वस्तु कवल इसलिए अच्छा नहीं कि पुरानी है, और न इसलिए बुरी है कि वह नई है। इस प्रकार कोई वस्तु अपन दश का होन मात्र स अच्छी नहीं हो जाता अच्छा वस्तु सभा जगह अच्छा है अन्तराष्ट्रीयता तथा विश्वबन्धुत्व का यहा मूल आधार है।

जिस सांस्कृतिक जागरण की हम चचा कर चुक हैं, महात्मा गांधी क आन्दोलन और उसकी सफलता ने पराकाष्ठा में पहुच गइ। भारत की संस्कृति का मुख्य तत्व आध्यात्मिक है और महात्मा गांधी का

सत्याग्रह वस्तुत आध्यात्मिकता का एक विशाल परीक्षण था जिसने सफल होकर ससार को चकित कर दिया। पृथ्वी की सबसे बड़ी भौतिक शक्ति ब्रिटिश साम्राज्य पर एक दुबले-पतले तपस्वी की जीत को देखकर ऋषि विश्वामित्र का यह वाक्य याद आ गया।

धिग्बल क्षत्रिय बल
ब्रह्मतेजो बल बलम्।

यूरोप के महान वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने महात्मा गाधी के जन्म दिवस पर सदेश देते हुए कहा था—'ससार की भावी सतति को यह विश्वास नही आयगा कि वह (गाधी) हमारे जैसे शरीर के साथ पृथ्वी पर विचरण करता था। इसी आश्चर्य की भावना को फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक रोम्याँ रोलाँ ने इन शब्दो मे प्रकट किया है

एक छोटा सा कृशकाय मनुष्य जिसकी आँखें बडी-बडी और आग निकली हुई है जिसका शरीर मोटे सफेद कपडे से ढका हुआ है और पाँव नगे हैं जो चावल और फलो पर जीवित है और केवल पानी पीता है जो फर्श पर सोता है सोता भी बहुत थोडा है और निरन्तर काम करता रहता है जो शरीर की रत्ती भर भी परवाह नहीं करता जिसमे कोई विशेष ध्यान देने योग्य बात नहीं है हाँ उसका सारा रूप अनन्त धैर्य और अनन्त प्रेम का सूचक है वह बच्चो की तरह सरल है वह जब विरोधियो का मुकाबला करता है तब भी विनय और शिष्टाचार को नही छोडता और वह सच्चाई का तो मानो देहधारी रूप है यह है वह मनुष्य जिसने तीस करोड देशवासियो को विद्रोह के लिये खडा कर दिया है, जिसने ब्रिटिश साम्राज्य की जडो को हिला दिया है और जिसने मनुष्यो की राजनीति मे गत दो हजार वर्षों की धार्मिक भावनाओ का प्रवेश करा दिया है।

यह था चमत्कारी रूप जिसमे विदेशी विचारक महात्मा गाधी को देखते थे। भारतवासी महात्माजी के अनुयायी थे उन्हे पूज्य मानते थे। उनमे पुराने समय के तपस्वी मुनियो का नवावतार देखते थे परन्तु

विदेशी लोगों को वे चमत्कार के सदृश प्रतीत होते थे। इस भेद का कारण यह है कि महात्माजी को राजनीति जैसे व्यावहारिक क्षेत्र में सफल होते देखकर उन्हें तपस्या सादगी सत्य और अहिंसा आदि ऐसे गुणों की प्रधानता माननी पड़ती थी जिन्हें उन्नीसवीं और बीसवीं सदी का पाश्चात्य संसार जंगलीपन का नाम दे चुका था। वे लोग इस सिद्धान्त को मानने लगे थे कि उन्नति की दौड़ में वे ही व्यक्ति या समाज आगे रह सकते हैं जो पुराने सादगी और सत्य के आदर्शों को छोड़कर आवश्यकताओं को बढ़ाने और उपयोगितावाद में विश्वास रखते हों। महात्माजी के जीवन से उन्हें अपना भौतिक दृष्टिकोण टूटता दीखा तो वे आश्चर्य अनुभव करने लगे। उन्हें महात्माजी का व्यक्तित्व चमत्कारपूर्ण लगने लगा। ऐसे चमत्कारपूर्ण महान् व्यक्ति की जीवन-कथा आध्यात्मिक और सांसारिक दोनों ही दृष्टियों से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसके साधन आध्यात्मिक थे तो प्रत्यक्ष लक्ष्य सांसारिक। उसमें धर्म और अर्थ परलोक और इहलोक आदर्शवाद और यथार्थवाद का ऐसा अद्भुत मिश्रण था कि यदि संसार के विचारकों ने उसे चमत्कार समझा तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

उस चमत्कारी पुरुष का नाम मोहनदास था। उनके पिता का नाम कर्मचन्द था और गांधी उपजाति सूचक शब्द था। आप अपने पिता की चौथी तथा अन्तिम सन्तान थे। उनके पिता पोरबन्दर के प्रतिष्ठित नागरिक थे।

बालक मोहनदास की शिक्षा राजकोट में हुई। उनके शिक्षा-काल की एक घटना विशेषरूप से उल्लेखनीय है क्योंकि वह उनके चरित्र की एक विशेषता को सूचित करती है। एक बार एक अंग्रेज इंसपेक्टर छात्रों की परीक्षा लेने आया। उसने अंग्रेजी के कुछ शब्द लिखाये। मोहनदास ने एक शब्द के हिज्जे ठीक-ठीक याद न होने से अशुद्ध लिख दिये। स्कूल का मास्टर छात्रों के बीच में घूम रहा था। उसने मोहनदास को इशारा किया कि वह सामने वाले लड़के के हिज्जों की नकल कर ले परन्तु

मोहनदास को नक़ल करना नहीं आया। परिणाम यह हुआ कि दूसरे सब लड़कों ने हिज्जे ठीक लिखे, केवल मोहनदास के ही गलत रहे। जिसके लिये इन्सपेक्टर के चले जाने पर मास्टर ने उसे बहुत लताड़ा। मास्टर ने मोहनदास को निरा बुद्धू समझा होगा।

तेरहवें वर्ष में कुल की प्रचलित प्रथा के अनुसार आपका विवाह हो गया। पत्नी का नाम कस्तूरबा था। गांधीजी के बड़े भाई लक्ष्मीदासजी राजकोट में वकील थे। वे बहुत चतुर और प्रभावशाली व्यक्ति माने जाते थे। सन् १८८५ में जब गांधीजी की आयु सोलह वर्ष की थी तब उनके पिता का देहान्त हो गया। उनके पश्चात् लक्ष्मीदासजी मोहनदास के मार्गदर्शक बने। उन्होंने निश्चय किया कि छोटे भाई को विलायत भेजकर बैरिस्टर बनाया जाय ताकि दोनों भाई मिलकर खूब पैसा पैदा करें। सन् १८८८ की ४ सितम्बर को लक्ष्मीदासजी ने अपने छोटे भाई को बम्बई से लन्दन के लिए जहाज पर बिठा दिया।

विलायत में गांधीजी पूरे विलायती ढंग से रहते थे। उस समय वे अपने को ब्रिटिश साम्राज्य का एक वफादार नागरिक मानते थे और उसी के अनुसार कार्य करते थे। बैरिस्ट्री पास करने में तीन वर्ष से कुछ न्यून समय लगा। १८८८ के सितम्बर में आप विलायत गये थे और १८९१ के जून में भारत वापस आ गए।

गांधीजी १८९३ के मई मास में डरबन के बन्दरगाह पर उतरे। अब्दुल्ला सेठ जिनके काम से गांधीजी वहाँ गये, बन्दरगाह पर उनसे मिले और अपने घर ले गये।

दक्षिणी अफ्रीका पहुँचकर गांधीजी ने वहाँ के रहने वाले भारतवासियों की जो दुर्दशा देखी उससे उनके हृदय पर गहरी चोट पहुँची। वहाँ के गोरे सब हिन्दुस्तानियों को 'कुली' नाम से पुकारते थे। गांधीजी को उन्होंने 'कुली बैरिस्टर' की उपाधि दी। एक बार जब वे सेठ अब्दुल्ला के साथ अदालत में जाकर बैठे तो जज उनकी पगड़ी की ओर घूर घूर कर देखने लगा। यह इस बात का इशारा था कि 'तुम्हें पगड़ी उतारकर

अपमान में बैठना चाहिए। गांधीजी ने पगड़ी उतारने की अपेक्षा अदालत से उठकर घर जाना बेहतर समझा। अगले दिन यह पगड़ी-काण्ड समाचारपत्रों में छप गया और उनकी खूब चर्चा हुई।

अभियोग के काम से गांधीजी को प्रिटोरिया जाना था। उनके लिए पहले दर्जे का टिकट खरीदा गया था। वे गाड़ी में बैठ गए। ट्रांसवाल की राजधानी पीटरमैरिट्जबर्ग में एक गोरा मुसाफिर उस डिब्बे में चढ़ने के लिए आया। एक कुली को वहाँ बैठा देखकर उलटे पाँव वापस चला गया और रेलवे के दो अधिकारियों को ले आया। उन्होंने गांधीजी को तीसरे दर्जे में चले जाने की आज्ञा दी। गांधीजी ने उतरने से इनकार कर दिया। इस पर पुलिस बुला ली गई और गांधीजी का सामान डिब्बे से बाहर डाल दिया गया। गांधीजी ने तीसरे दर्जे में सफर करने की अपेक्षा कड़ाके की सर्दी में रातभर मुसाफिरखाने में पड़ा रहना पसन्द किया। केवल भारतवासी होने के कारण निचली श्रेणी में जाना आत्म सम्मान के विरुद्ध समझा।

सन् १८९४-९५ में गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों को जाग्रत करने का गुरुतर कार्य किया। उन्हें जो अन्याय उन पर हो रहा था और हानि वाला था उससे सचेत करके संगठित होने का सन्देश दिया। सन् १८९६ में आप छः मास के लिए अपनी जन्मभूमि में आए। आने के दो उद्देश्य थे। एक तो अपने परिवार को साथ ले जाकर दक्षिण अफ्रीका को अपना स्थायी कार्य क्षेत्र बनाना और दूसरा प्रवासियों की स्थिति से देशवासियों को परिचित कराना। पूना में आपने लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और 'सर्वेण्ट्स ग्राफ इण्डिया सोसाइटी' के अध्यक्ष पण्डित गोपालकृष्ण गोखले के दर्शन किए। मनुष्य स्वभाव से समान प्रकृति की ओर झुकता है। आप जहाँ तिलक की तेजस्विता से प्रभावित हुए वहाँ गोखले के व्यक्तित्व ने आपको अपनी पूरी तरह आकृष्ट कर लिया। गांधीजी गोखलेजी को अपना गुरु मानते थे।

सन १८९७ में गांधीजी डरबन वापस पहुँच गए। उस समय एक

एसा काण्ड हुआ जिसन दक्षिण अफ्रीका क गोरे निवासियों का असली रूप ससार पर प्रकट कर दिया। जब गाधीजी जहाज से उतरकर शहर म जा रहे थे तो कुछ गोरे बच्चो न उन्हें पहचानकर शोर मचा दिया। गोरो की भीड इकट्ठी हो गई और पागल कुत्तो की तरह गाधीजी पर टूट पडी। पत्थर ईंट और अडे जो कुछ मिला उन पर फेंका गया। अन्त म पुलिस आ गई और उस हगामे म से गाधीजी को निकाल ले गई। इस घटना ने महात्माजी क हृदय पर विरोधी भाव अकित किए या नही यह सदिग्ध हो सकता है परन्तु भारतवासियो न गोरों का नग्नरूप देख लिया यह असदिग्ध है।

इन सब अनुभवो क होते हुए भी गाधीजी न अपने मन्तव्य क अनुसार गोरों क हृदयों को प्रम द्वारा जीतने का परीक्षण जारी रखा। जब सन् १८६६ म बोअर युद्ध जारी हुआ तो अपने को ब्रिटिश साम्राज्य का एक नागरिक मानकर अपनी सेवाय अग्रजी सरकार को अर्पण कर दी और घायलो की सेवा करन क लिये लगभग १ १ भारतीयो की एक टुकडी तैयार कर ली जो रणक्षत्र म पहुँचकर बराबर घायलो की सेवा करती रही।

सन् १९ ७ म ट्रांसवाल की सरकार ने भारतीयो क विरोध की अणुमात्र भी परवाह न करके काले निवासियो की रजिस्ट्री का कानून पास कर दिया। गाधीजी के नेतृत्व में भारतीयो ने इस काले कानून का सत्याग्रह द्वारा विरोध किया। उन्होंने रजिस्ट्री करान स इनकार कर दिया। इस पर सरकार ने गाधीजी और उनके साथियो को गिरफ्तार करना आरम्भ कर दिया।

सत्य और दमन का यह युद्ध सन् १९१४ तक जारी रहा बीच म कई उतार चढाव हुए। वहाँ के प्रधान मन्त्री जनरल स्मटस न कई वायदे किए और तोडे। परिणामत भारतीयो को कई बार सत्याग्रह करना पड़ा। अन्त में गोरों को सत्याग्रहियो क तप और ससार क लोकमत के सम्मुख झुकना पडा। एक समझौता हुआ जिसने कुछ समय क लिय

भारतीयों का सिर ऊँचा कर दिया। भारतीयों के इस पावन प्रयत्न में मि० पोलक आदि कई यूरोपियन सज्जन भी सम्मिलित हो गये थे।

इन वर्षों में महात्माजी ने अपना आश्रम अहमदाबाद के समीप साबरमती नदी के किनारे स्थापित कर लिया था। डरबन से आये हुए छात्र वहीं पहुँच गए थे। महात्माजी तब से देश में 'साबरमती के संत' के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

महात्माजी को राजनीति की मुख्य धारा में डालने का श्रेय रौलट एक्ट सम्बन्धी आन्दोलन को है। यूरोप का पहला महायुद्ध सन् १९१४ में प्रारम्भ हुआ और १९१८ के नवम्बर मास में समाप्त हो गया। युद्ध के प्रारम्भ होने पर सब मतभेदों और शिकायतों को अलमारी में बन्द करके सभी श्रेणियों ने भारतवासियों ने अंग्रेजी सरकार की सहायता करने का संकल्प प्रकट किया तथा आचरण भी किया। राष्ट्रीय नेताओं ने जनता को सहयोग की प्रेरणा दी। राजा-महाराजाओं और नवाबों ने धन एवं सेना की भेंट पेश की और साधारण जनता उत्साहपूर्वक सेना में भर्ती होने लगी। देश की इस हार्दिक सहायता से अंग्रेज इतने प्रभावित हुए कि इंगलण्ड के बादशाह से लेकर साधारण लोक-नेताओं ने भारतवासियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए अनेकानेक सब्ज बाग दिखाए। यदि युद्ध और चलता या अंग्रेज जीतने के स्थान पर हार जाते तो भारत के प्रति इंगलैण्ड का क्या व्यवहार होता यह कहना कठिन है परन्तु भाग्यों की बात अंग्रेज और उनके साथी जीत गए। मनुष्य की गहराई की परीक्षा हार के समय नहीं जीत के समय मालूम पड़ती है, जीत ने अंग्रेजों के दिमाग बदल दिए, जिसका परिणाम यह हुआ कि इंगलण्ड ने भारत के सामने स्वराज्य या स्वराज्य की किश्त की जगह 'रौलट बिल' नाम का दमनकारी कानून पेश कर दिया।

'रौलट बिल' को कानून बनने से रोकने के लिये जितने वैध उपाय हो सकते थे सब उपयोग में लाए गये किन्तु अंग्रेजी सरकार टस से मस नहीं हुई और १८ मार्च १९१९ को रौलट एक्ट विधान सभा में स्वीकृत

होकर कानून बन गया। विधान सभा में भारतीय सदस्यों ने खूब डटकर विरोध किया। सरकार को गम्भीर चेतावनी दी गई परन्तु घमंड में चूर अन्धी सरकार विचलित न हुई उसने पूर्ण अवहेलना करने का निश्चय कर लिया था।

महात्माजी ने अहिंसात्मक सत्याग्रह की रणभेरी १९१९ के माघ मास में बजाई। उन्होंने देश को जगाकर क्रान्ति का श्रीगणेश कर दिया। उस समय जो शान्तिमय संग्राम प्रारम्भ हुआ उसने कई रूप धारण किए। कभी उतार पर आया तो कभी चढ़ाव पर पहुँचा। कभी-कभी सर्वथा असफल-सा होता प्रतीत हुआ। परन्तु महात्माजी के अटल एवं प्रबल नेतृत्व में जो संग्राम सन् १९१९ में प्रारम्भ हुआ वह अट्ठाईस वर्षों तक बराबर चलता रहा और अन्त में सन् १९४७ ई० के १५ अगस्त के शुभ दिन स्वाधीनता की प्राप्ति के साथ उसकी समाप्ति हुई।

यह अहिंसात्मक सत्याग्रह कई दशाओं में से होकर गुजरा। प्रारम्भ में उसका रूप था हड़ताल, प्रार्थना और उपवास। कुछ आगे चलकर उसने असहयोग का रूप धारण कर लिया और अन्त में सत्याग्रह की सर्वांगीण योजना बनाकर देश भर में व्याप्त हो गया। महात्माजी के उपवास इस संग्राम के सैनिकों में उत्साह का प्रचण्ड मन्त्र फूँक देते थे। वे इस अहिंसात्मक संग्राम में उनका यथासमय प्रयोग करते रहते थे। यह सत्याग्रह संग्राम विश्व के लिये एक नई देन थी। समस्त मानव जाति धर्म के व्यापक सिद्धान्तों के इस व्यावहारिक प्रयोग के परीक्षण को बड़ी उत्सुकता एवं आशंका से देख रही थी। गान्धीजी तो इसे अपने अभिमत सिद्धान्तों की अग्नि परीक्षा मानते थे। अन्त में वे सफल हुए। परिस्थितियों का सहयोग पाकर महात्माजी का प्रयोग सब प्रकार से सफल हुआ। भारत को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हुई। मनुष्य जाति को अन्याय, अत्याचार और बलात्कार पर विजय पाने का नूतन साधन प्राप्त हो गया।

इसके पश्चात् कांग्रेस का अधिवेशन कानपुर में हुआ। यहाँ महात्माजी

ने कांग्रेस की बागडोर भारत-कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू के हाथों में सौंप दी और स्वयं फिर कांग्रेस के बेताज बादशाह बन गये। सन् १९२६ में नये विधान के अनुसार धारा सभाओं के जो चुनाव हुए, उनमें कांग्रेसजनों ने स्वराज्य पार्टी के तत्त्वावधान में भाग लिया। कांग्रेसी यह संकल्प करके धारा सभाओं में प्रविष्ट हुए कि वे गढ़ के भीतर जाकर सरकार की शक्ति को नष्ट करेंगे। महात्माजी ने सिद्धान्त रूप में स्वराज्य दल की नीति से सहमत न होते हुए भी व्यावहारिक रूप में स्वराज्य दल को अपना आशीर्वाद प्रदान किया।

१९२७ के नवम्बर मास में भारत की राजनीति का नया दौर प्रारम्भ हुआ। सरकार महात्माजी को अधूरे सुधारों से सन्तुष्ट करके राजनीतिक गुत्थी को सुलझाने का यत्न करने लगी। परन्तु महात्माजी झाँसे में न आकर स्वराज्य प्राप्ति के लिये शान्तिमय संग्राम की ज्वाला को नये-नये रूपों में अधिकाधिक प्रज्वलित करते गये। इस संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त में उस समय की मुख्य-मुख्य घटनाओं का निर्देश ही किया जा सकता है। उन्हें हम भारत की स्वराज्य यात्रा के पड़ाव कह सकते हैं।

१९२९ के अन्त में लार्ड इरविन ने घोषणा की कि भारत के भावी संविधान का निश्चय करने के लिये लंदन में गोलमेज कान्फ्रेंस की जायगी जिसमें भारत के सभी दलों के प्रतिनिधि भाग ले सकेंगे। कांग्रेस ने महात्माजी को अपना एकमात्र प्रतिनिधि चुनकर लन्दन भेजा। इधर १९२९ के दिसम्बर मास में अन्तिम रात के बारह बजे रावी के तट पर पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस ने यह घोषणा कर दी कि उसका लक्ष्य भारत के लिये पूरी स्वाधीनता प्राप्त करना है।

महात्माजी स्वाधीनता प्राप्त करने का एकमात्र उपाय सत्याग्रह को मानते थे। सत्याग्रह संग्राम का नियम है कि पहले शत्रु को सूचना दे दी जाय तब हमला किया जाय। महात्माजी ने एक शान्तिप्रेमी अंग्रेज मित्र के हाथ अपने विचार की सूचना वायसराय के पास भेज दी। वायसराय

ने स्वयं उसका कोई उत्तर नहीं दिया तब महात्माजी ने नमक सत्या ग्रह जारी करने का निश्चय करके देश को उसके लिये उद्यत होने की सूचना दे दी।

१२ मार्च १९३० को महात्माजी ने वह अद्भुत चढ़ाई आरम्भ की जो दांडी यात्रा के नाम से प्रसिद्ध है। आपने अपने ७८ अनुयायियों के साथ साबरमती आश्रम से समुद्र-तट की ओर पैदल प्रस्थान कर दिया। आपका लक्ष्य समुद्र-तट पर पहुँचकर स्वेच्छा से नमक बनाकर नमक कानून को भंग करना था। वह यात्रा क्या थी देश के लिये क्रान्ति का एक सात्विक सन्देश था। उसने देश भर में जोश की एक प्रचण्ड ज्वाला प्रदीप्त कर दी।

लगभग डेढ़ मास तक सरकार ने इस यात्रा को चलने दिया। सम्भवतः उसका विचार था कि अन्त में किसी-न-किसी दिन यात्री थकेंगे ही। परन्तु उनके थकने के स्थान पर नमक-सत्याग्रह की आग देश भर में फैल गई। तब सरकार ने ४ मई को महात्माजी को नजरबन्द करने के लिये गिरफ्तार कर लिया।

फिर यह परिवर्तन हुआ और सरकार ने गतिरोध को दूर करने के उद्देश्य से गोलमेज कान्फ्रेंस में भाग लेने के लिये महात्माजी को जेल से मुक्त कर दिया। कांग्रेस ने महात्माजी को अपना एकमात्र प्रतिनिधि बनाया और उनसे लन्दन जाने की प्रार्थना की जिसे महात्माजी ने स्वीकार कर लिया।

कान्फ्रेन्स क्या थी भानुमती का पिटारा था। सरकार ने भिन्न भिन्न विचारों के लोगों को इकट्ठा करके संसार के सामने भारत की फूट का दृश्य उपस्थित करने का यत्न किया था। भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के लोग विशेष अधिकारों के लिये लड़ रहे थे और अंग्रेजी सरकार बिल्लियों में बन्दर बनकर मुस्करा रही थी। ऐसे वातावरण में महात्माजी अटल रहे। वे विशेष मताधिकारों के विरोध और शासन के पूरे अधिकारों की

मौग पर दृढ़ बने रहे । परिणाम यह हुआ कि दूसरी गोलमेज कान्फ्रेन्स भी बाँझ ही सिद्ध हुई ।

महात्माजी ने अपने देश म आकर पुन अहिंसात्मक सग्राम का बिगुल बजा दिया । यह सघर्ष लम्बा चला । अपने नियम के अनुसार महात्माजी ने पहले वायसराय से मिलने के लिये समय मांगा । वायसराय न इनकार कर दिया इस पर महात्माजी ने उसे सूचना दे दी कि 'अब मुझे सविनय कानून भग का आन्दोलन चालू करना पडेगा' । इस सूचना का उत्तर सरकार ने गांधीजी की गिरफ्तारी से दिया । व यरवदा जेल म बन्द कर दिये गये । देश पर महात्माजी की गिरफ्तारी का जो असर हुआ उससे सरकार चकित हो गई । देश भर म सविनय कानून भग का आन्दोलन पानी में तेल की तरह फल गया । देश भक्त पुरुष स्त्री और बच्चे मानों एक दूसरे से होड लगाकर कानून भग करके जेलों म जाने लगे ।

अछूतों की समस्या के वधानिक पहलू से निवटकर महात्माजी न अपना सारा ध्यान उस समय क सामाजिक पहलू पर लगाने का निश्चय किया । उन्होंने "यग इण्डिया' का नाम बदलकर 'हरिजन सेवक' रख दिया । "हरिजन सवक सघ' का सगठन भी उन्होंने इसी समय किया ।

१९३३ के मई मास में महात्माजी न आत्म शुद्धि के लिये फिर २१ दिन का उपवास किया । गांधीजी पहले उपवास स बहुत निबल हो चुके थे । दूसर उपवास स उनके जीवन पर सकट आ सकता था । इस कारण सरकार ने उपवास के पहले ही दिन उन्हें जेल से मुक्त कर दिया । स्वाधीन होकर महात्माजी हरिजनों के कष्ट-निवारण और दरिद्रनारायण की सेवा म लग गये ।

लगभग छः वर्ष महात्माजी ने राष्ट्र को स्वाधीनता क युद्ध क लिये तैयार करने म व्यतीत किये । १९३९ क सितम्बर मास म यूरोप का दूसरा महायुद्ध आरम्भ हो गया जिसने कुछ समय के लिये भारत की राजनीति को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अग बना दिया ।

३ सितम्बर को इंग्लण्ड भी युद्ध में कूद पड़ा और भारतवासियों से किसी प्रकार का परामर्श किए बिना ही अपनी इच्छा से भारत को भी युद्ध की अग्नि में घसीट ले गया। महात्माजी की युद्ध के प्रति पहली प्रतिक्रिया यह हुई कि उन्होंने युद्ध की कार्यवाहियों के प्रति तटस्थ रहने की घोषणा की। उन्होंने यह भी कहा कि वह किसी आन्दोलन द्वारा संकट के समय ब्रिटेन की उलझन को बढ़ायेंगे नहीं। यूरोप का दूसरा महायुद्ध लगभग छः वर्षों तक रहा। इन वर्षों में भारत के राजनीतिक रंगमंच पर कई पर्दे पड़े और उठे। कुछ समय तक सन्नाटा रहा। सरकार की सारी शक्ति युद्ध में विजय प्राप्त करने में लग गई। १९४१ में एक वर्ष तक महात्माजी ने अपनी शान्तिमयी तलवार म्यान में डाल ली थी। वर्ष के अन्त में जापान के युद्ध में कूद पड़ने से स्थिति गम्भीर हो गई। युद्ध की लहरें भारतीय सीमा पर टकराने लगीं। सरकार के लिये भारत में शान्ति रखना अनिवार्य हो गया। उधर इंग्लण्ड के प्रधान मन्त्री चर्चिल पर अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट का जोर पड़ रहा था कि भारत को शीघ्र ही उत्तरदायी शासन देकर युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये सन्नद्ध हो जाओ।

नेताओं की अचानक गिरफ्तारी से देश पर बहुत गहरा और व्यापक असर पड़ा। क्रोध और प्रतिहिंसा की जिस वृत्ति को गांधीजी ने तथा अन्य नेताओं ने रोक रखा था वह रुके हुए ज्वालामुखी की भाँति एकदम फूट पड़ी। देश के भिन्न भिन्न केन्द्रों में मारकाट और आग की सैकड़ों भयानक घटनाएँ हुईं जिन्हें दबाने के लिये सरकार की ओर से धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ की गईं, गोलियाँ चलाई गईं और कई बस्तियों पर हवाई जहाजों से बम भी बरसाये गए। जिस आतंकवाद को महात्माजी ने निरन्तर प्रचार द्वारा बड़े प्रयत्न से दबा दिया था वह बरसाती बाढ़ के पानी की तरह देश में चारों ओर फैल गया।

महात्माजी को इस बार के कारावास में कई असह्य आघात पहुँचे। पहला आघात देश में हिंसात्मक आन्दोलन के जागृत होने से पहुँचा।

सरकार के अत्याचारों ने उनके दुख को सौ गुना कर दिया। आत्मा की ज्वाला को शान्त करने के लिए उन्होंने १० फरवरी को लम्बा उपवास का अनुष्ठान किया जो २ मार्च को समाप्त हुआ। दूसरा आघात सबसे प्रिय और अन्तरंग शिष्य महादेवभाई देसाई की मृत्यु का पहुँचा। उनका देहान्त हृदय की गति के रुक जाने से हुआ। तीसरी चोट उन सबसे भारी थी। फरवरी मास में गांधीजी की जीवन-संगिनी आदर्श पतिव्रता साध्वी कस्तूरबा का प्राणान्त हो गया। उस समय सती का सिर अपने पति की गोद में था। अपने जीवन-साथी के वियोग पर महात्माजी ने कहा था 'बा के बिना जीवन की मैं कल्पना नहीं कर सकता। उसकी मृत्यु से जो जगह खाली हुई है वह कभी नहीं भरेगी। हम दोनों बासठ वर्ष तक साथ रहे और वह मेरी गोद में मरी इससे अच्छा क्या हो सकता है मैं बहुत खुश हूँ।'

इन शब्दों के साथ महात्माजी की आँखों से आँसू ढुलक पड़े। छह मास पीछे उन पर मलेरिया का प्रकोप हुआ जिससे उनका रक्तचाप बढ़ गया और जीवन संकटग्रस्त हो गया। उस समय देश भर में चिन्ता के कारण हाहाकार व्याप्त हो गया। जब सर तेजबहादुर सप्रू और मि० जयकर ने वायसराय से मिलकर ऊँच-नीच समझाया तब सरकार ने महात्माजी को जेल से मुक्त कर दिया।

१५ अगस्त सन् १९४७ को इंगलैण्ड ने भारत को स्वाधीनता दे दी किन्तु उसका विभाजन कर उसके शरीर के दो टुकड़े कर दिए।

इस विभाजन का जो भयंकर परिणाम हुआ उसका उदाहरण इतिहास में मिलना कठिन है। पाकिस्तान में हिन्दुओं पर और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में भारत में मुसलमानों पर विपत्तियों के जो पहाड़ टूटे जैसी मारकाट और बरबादी हुई उसे इतिहास के पृष्ठों पर लगभग एक करोड़ व्यक्तियों के गर्म रक्त से लिखा गया।

नोआखाली में शान्तिमय वातावरण की स्थापना करने के पश्चात् महात्माजी दिल्ली में फैली साम्प्रदायिक अग्नि को शान्त करने के उद्देश्य

से दिल्ली पधारे। धर्मान्धता के कलुषित वातावरण में उनकी शीतल वाणी जादू का काम करने लगी। अपने आत्मिक बल के सहारे महात्माजी बहके हुए मनुष्यों को जो पशुओं से भी गये-बीते हो चले थे उबारने लगे। उपद्रव शान्त होने लगे। उनका यह चमत्कार देख सारा विश्व दाँतो-तले उँगली दबाने लगा।

प्रतिदिन सायंकाल प्रार्थना के अवसर पर महात्माजी जो भाषण करते थे वे शान्ति के प्रसार में परम सहायक सिद्ध होते थे। अब उन्हें प्रतिदिन अखिल भारतीय आकाशवाणी के केन्द्र से प्रसारित किया जाता था। उनकी शान्तिमयी अमृतवाणी सुनने के लिये अगणित नर-नारी प्रार्थना सभा में सम्मिलित होते थे। फिर भी कहीं-न-कहीं उपद्रव की भड़की हुई आग अपना विकराल रूप दिखाने लग जाती थी। यह देख कर महात्माजी ने १३ जनवरी १६४८ को दिन के ११ बजे उपवास प्रारम्भ कर दिया। दंगावादी और सब कुछ सह सकते थे किन्तु महात्माजी के प्राणों पर संकट का आना उन्हें असह्य था। यह उपवास विशेष रूप से दिल्ली के सम्बन्ध में था। उपवास प्रारम्भ होने पर दिल्ली के प्रमुख हिन्दुओं और राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं में हलचल-सी मच गई। उन्होंने एक मत होकर महात्माजी को विश्वास दिलाया कि वे शहर में मुसलमानों की मारकाट बन्द करा देंगे। इस आश्वासन के मिलने पर १८ जनवरी को महात्माजी ने उपवास तोड़ दिया और मौलाना आज़ाद के हाथ से नारंगी के रस का गिलास लेकर पी लिया।

इस प्रकार आशा-जल से सिंचित होकर महात्माजी के जीवन की लता पुनः हरी होने लगी थी कि परमात्मा के यहाँ से बुलावा आ गया। ३० जनवरी १६४८ की संध्या के पाँच बजकर पाँच मिनट पर महात्माजी दैनिक प्रार्थना में भाग लेने के लिये आभा और मनु के कंधों पर हाथ रखकर प्रार्थना स्थान की ओर चल दिए। जब वे प्रार्थना के स्थान के समीप पहुँच गये तो एक महाराष्ट्रीय नवयुवक नाथूराम गोडसे भीड़ को चीरता हुआ आगे आया। वह उनके चरणों की ओर झुका।

उपस्थित जनता ने समझा कि वह उनकी पावन रज का मस्तक पर धारण करना चाहता है किन्तु दूसरे ही क्षण उसने अपनी जेब से रिवाल्वर निकाल ली और ठाँय-ठाँय करके तीन गोलियाँ महात्माजी के सीने में दाग दीं। पावन रज के स्थान पर उसने उनकी हत्या के कलंक का टीका अपने मस्तक पर लगा लिया।

गांधीजी के नेतृत्व में जो राष्ट्रीय क्रान्ति हुई उसमें भारतीय संस्कृति के निम्नलिखित अंग विशेष रूप से प्रकट हुए

१ जीवन की शुद्धता—महात्माजी सार्वजनिक जीवन का आधार मनुष्य के निजी जीवन की शुद्धता को मानते थे।

२ तपस्या की शक्ति—महात्माजी का सारा जीवन ही तपोमय था।

३ अहिंसा और सत्य का गौरव—ये महात्माजी की सम्पूर्ण कार्य-नीति के आधार थे।

४ वेष की सादगी—१९१९ और १९२० के मध्यवर्ती १२ महीनों में देश के बड़े भाग में कोट-पैण्ट के स्थान पर खद्दर की टोपी और कुर्ते का प्रचार भी एक महा चमत्कार था।

५ दैनिक प्रार्थना में उपनिषदों और गीता के श्लोकों का पाठ।

६ अन्य धर्मों से उदारता और सहानुभूति का व्यवहार।

७ अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं की प्रधानता।

८ मशीन की जगह चर्खे और बड़े कारखानों के स्थान पर गृहोद्योग का प्रोत्साहन।

वर्तमान काल

१५ अगस्त सन १९४७ को स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् जो काल आरम्भ हुआ उसे हम वर्तमान काल कह सकते हैं। यह काल राजनीतिक दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही इस काल की यह भी विशेषता है कि इसमें राष्ट्रीय नेतृत्व के साथ पश्चिम और भारत की सभ्यताओं

के परस्पर मिश्रण का नया परीक्षण किया जा रहा है। देशभर म लोगों की सस्कृत की ओर रुचि बढ रही है अग्रजी के स्थान पर हिन्दी और अन्य भाषाओ को स्थापित करने का प्रयत्न हो रहा है और वेष को भी भारतीय ढग पर लाने की चेष्टा जारी है।

गणतन्त्र सविधान के चार अश ऐसे हैं जिनसे जाति के रूप मे चोटी से एडी तक परिवतन हो जाने की सम्भावना है। व अश ये है—

१ *प्रत्येक वयस्क (बालिग) को मत देने का अधिकार प्राप्त हो* गया है। स्त्री और पुरुष को मताधिकार समान है।

२ छुआछूत को अपराध करार दिया गया है। अस्पृश्य कहलाने वाल वग को पृथक मताधिकार केवल १ वर्षों तक परिमित कर दिया गया है।

३ सामन्तशाही ताल्लुकदारी और जमीदारी को समाप्त कर दिया गया है।

४ अग्रजी क स्थान पर हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद प्रदान किया गया है।

इनके परिणामस्वरूप देश म असाधारण जागृति उत्पन्न हो गई है। स्वभावत इन परिवतनो का देश की सस्कृति पर गहरा असर हो रहा है। प्रथम और द्वितीय पचवर्षीय योजना के फलस्वरूप जितने भौतिक और आर्थिक परिवतन होने की आशा है वह भी कम नही है। अब तीसरी पचवर्षीय योजना की तैयारी हो रही है।

इस विकास के साथ साथ साहित्यिक हलचल भी बढ गई है। केन्द्रीय सरकार और कई प्रान्तिक सरकारो म प्रोत्साहन पाकर हिन्दी साहित्य का उत्पादन बढ गया है। जागरण काल म हिन्दी की सब दिशाओ म जो उन्नति शुरू हुई थी वह न कवल जारी है उसका वेग कुछ तीव्र हो गया है। यद्यपि उस समय के पन्त निराला मथिलीशरण गुप्त तथा महादेवी वर्मा आदि कवियो प्रमचन्द आदि उपयास लेखकों प० महावीर प्रसाद द्विवेदी बालमुकुन्द गुप्त गणशशंकर विद्यार्थी आदि सम्पादकों

और आलोचकों के समकक्ष साहित्यकार अभी मैदान में नहीं आये तो भी मध्य कोटि के साहित्यिकों की संख्या बढ़ गई है और रचनाओं की मात्रा में वृद्धि हो गई है। वैज्ञानिक और ऐतिहासिक अनुसंधान के काम में भी अविच्छिन्न उन्नति हो रही है। प्रान्तीय भाषाओं के निर्माण में भी असाधारण प्रगति दिखाई दे रही है। श्री राजगोपालाचार्य और श्री माणिकलाल कन्हैयालाल मुंशी जैसे नेताओं के नाते साहित्य के क्षेत्र में उतर आये हैं जिससे सर्वसाधारण समाज को भी प्रोत्साहन मिला है।

ये सब भारतीय संस्कृति की सनातन प्रवृत्तियाँ हैं परन्तु साथ ही कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी दिखाई दे रही हैं जिन्हें भारत के लिए नवीन कहा जा सकता है। यह महात्मा गांधी की विचारधारा के भी प्रतिकूल हो हैं। राजकीय तौर पर ईश्वर और धर्म शब्दों का प्रयोग बन्द सा हो गया है। उच्च अधिकारियों द्वारा मद्यपी को शिक्षा का स्थिर अंग बनाने का प्रचार हो रहा है। तलाक की प्रथा राजनियम द्वारा मान ली गई है। धर्म का स्थान मशीन लेती जा रही है और शिक्षा की पूर्ति के लिए विशेष आकार देना अधिक आवश्यक हो रहा है। वास्तुकला में एकदम क्रान्ति सी आ गई है। मुसलमानों से बनी भाई भारतीय निर्माण-कला का स्थान पश्चिम की शैली ने ले लिया है। प्रायः नई सरकारी इमारतें "डिज़ाइन" प्रणाली पर बनाई जा रही हैं। भारत और पश्चिम के वर्तमान मन्थन में अन्त में कौन जीतेगा इतना यह कहना कठिन है। देश के वर्तमान प्रणेता के नेता पंडित जवाहरलाल नेहरू हैं जो स्वयं पश्चिम और पूर्व के समन्वय के परिणाम हैं। कहा जा सकता है कि उनके दिमाग पर पश्चिम का और दिल पर भारत का प्रभुत्व है। वर्तमान काल अन्त में भारतीय संस्कृति का किधर ले जायेगा यह शायद आज से २० साल पीछे भली प्रकार बताया जा सकेगा।

तीसरा अध्याय

भारतीय संस्कृति का विदेशों मे विस्तार

किसी समय यह समझा जाता था कि भारतवासी सदा से अत्यन्त सकुचित मनोवृत्ति वाला होने के कारण अपनी सीमाओं म ही बधे रहे हैं। ऐतिहासिक और भौगोलिक अनुसधान ने उस धारणा को बिलकुल निर्मूल सिद्ध कर दिया है।

भारत के अत्यन्त प्राचीन साहित्य क अध्ययन स इसम कोई सन्देह नही रहता कि वह जाति जो आदिकाल में पर्वतों स उतरकर सप्तसिधु म आई इतनी साहसिक और भ्रमणशील थी कि सकुचित मनोवृत्ति उसके पास तक नही फटकती थी। मदान मे आकर बसने के समय स ही उनका अन्य देशों में प्रयाण आरम्भ हो गया था। उन आर्यों का विदेश मे पहला प्रयाण शायद वह हुआ जो उन्हें ईरान म ले गया। उन्होंने ईरान म उस संस्कृति को स्थापित किया जिसका आधार जिन्दावस्था पर है। जिन्दावस्था म इस बात के चिह्न पूणरूप से विद्यमान हैं कि उसका वेदो से गहरा सम्बन्ध है। उसकी भाषा और भाव वेदों की भाषा और भावों स बहुत निकट का सम्बन्ध रखते हैं। यही पुराना सांस्कृतिक सम्बन्ध था जो धम पर सकट आने के समय ईरान के निवासियो को भारत म खेंच लाया जहाँ आज भी वे अपने पुराने बन्धुओं म सुखपूवक रह रहे हैं।

दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम—वदिक साहित्य स इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल म आय जाति का एक वग था जिन्हे पणि कहते थे। वणिक शब्द पणि से ही निकला है। पणि लोग व्यापारी थे। वे नौकाओं से समुद्र को पार करके दूर-दूर देशो म व्यापार के लिए जाते थे। जिस जाति को आरम रहा और आगे बढ़ने के लिये

न्नि रात युद्ध करना पड़ता हो उसमें केवल व्यापारियों को बहुत मान्य की दृष्टि से नहीं देखा जाता। प्रतीत होता है कि पणि भी उस समय के संघर्षमय जीवन में कुछ हल्के समझे जाते थे। इस कारण उनकी यह प्रवृत्ति थी कि वे जिन देशों में व्यापार के लिए जाते थे वहीं बस जाते थे। माना जाता है कि राजस्थान के प्रदेश में उस समय जो समुद्र था उस पार करके वे लोग विन्ध्याचल के दक्षिण में जाकर बस गये। पाण्ड्य आदि प्राचीन प्रदेशों में संस्कृति का प्रथम सन्देश पहुँचाने वाले वे ही लोग थे।

दक्षिण में बसने के पश्चात भारतीय व्यापारी और आगे चले और लंका (सिलोन) आदि समीपस्थ प्रदेशों में से होते हुए अफ्रीका में पहुँच गये। ऐतिहासिक खोज ने यह प्रमाणित कर दिया है कि फोनेशियन लोगों की उत्पत्ति पणि से ही हुई है। वर्तमान मिस्रवासियों के पूर्व पुरुषा न केवल सांस्कृतिक दृष्टि से ही प्राचीन भारतवासियों से मिलते-जुलते थे उनके सिर तथा अन्य शारीरिक अंगों का निर्माण भी भारतवासियों के समान ही था। वहाँ की नदियों के तथा देवताओं के नाम संस्कृत से इतने मिलते-जुलते हैं कि उनके प्राचीन निकट सम्बन्धों में सन्देह नहीं रहता। अन्य अनेक देशों में भी पुरानी भारतीय संस्कृति के चिह्न मिलते हैं। कई विद्वानों का मत है कि स्कन्डीनेवियन शब्द की उत्पत्ति स्कन्द शब्द से है। यही कारण है कि स्कन्डीनेविया में भी भारतीय संस्कृति के अनेक अवशेष पाये जाते हैं।

दक्षिण तथा मध्य एशिया—हमने देखा है कि बाहर की दुनिया से भारत के सम्बन्ध बहुत पुराने हैं। जल और स्थल के मार्ग से प्राचीन भारत के साहसिक निवासी पृथ्वी के दूर-से-दूर देशों में जाते थे उनसे व्यापार करते थे और ज्ञान का आदान-प्रदान करते थे। उस युग में भारतवासियों में वास्कोडिगामा और कोलम्बस जैसे उत्साही और उद्योगी पुरुषों की कमी नहीं थी। वह दूसरे देशों में प्रायः व्यापार करके लौट आते थे परन्तु कभी-कभी समूह के समूह वहीं बस जाते थे। उस

तीसवाँ अध्याय

भारतीय सस्कृति का विदेशो मे विस्तार

किसी समय यह समझा जाता था कि भारतवासी सदा से अत्यन्त सकुचित मनोवृत्ति वाला होने के कारण अपनी सीमाओं मे ही बधे रहे हैं। ऐतिहासिक और भौगोलिक अनुसधान ने उस धारणा को बिलकुल निर्मूल सिद्ध कर दिया है।

भारत के अत्यन्त प्राचीन साहित्य के अध्ययन से इसमे कोई सन्देह नही रहता कि वह जाति जो आदिकाल में पर्वतों से उतरकर सप्तसिंधु म आई इतनी साहसिक और भ्रमणशील थी कि सकुचित मनोवृत्ति उसके पास तक नही फटकती थी। मैदान म आकर बसने के समय से ही उनका अन्य देशो म प्रयाण प्रारम्भ हो गया था। उन आर्यों का विदेश म पहला प्रयाण शायद वह हुआ जो उन्हे ईरान म ले गया। उन्होने ईरान म उस सस्कृति को स्थापित किया जिसका आधार जिन्दावस्था पर है। जिन्दावस्था म इस बात के चिह्न पूर्णरूप से विद्यमान हैं कि उसका वेदो से गहरा सम्बन्ध है। उसकी भाषा और भाव वेदों की भाषा और भावों से बहुत निकट का सम्बन्ध रखते हैं। यही पुराना सास्कृतिक सम्बन्ध था जो धर्म पर सकट आने के समय ईरान के निवासियो को भारत म खींच लाया जहाँ आज भी वे अपने पुराने बन्धुओं म सुखपूर्वक रह रहे हैं।

दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम—वैदिक साहित्य से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल म आर्य जाति का एक वर्ग था जिन्हें पणि कहते थे। वणिक शब्द पणि से ही निकला है। पणि लोग व्यापारी थे। वे नौकाओं से समुद्रो को पार करके दूर-दूर देशो म व्यापार के लिए जाते थे। जिस जाति को आत्म रक्षा और आगे बढ़ने के लिये

युग में भारतवासियों ने जिन देशों में जाकर बस्तियाँ बसाई और अपनी संस्कृति का प्रचार किया उनमें दक्षिण पूर्व एशिया के देश मुख्य थे। चीन, हिन्दचीन, मलाया और हिन्देशिया के इतिहास से और वहाँ की वर्तमान खोज से बिलकुल स्पष्ट हो गया है कि महात्मा बुद्ध से भी बहुत पूर्व भारत के व्यापारी तथा विद्वान् उन देशों में गये और वहाँ बसकर अपने धर्म और संस्कृति का विस्तार करते रहे। एक विशेष बात यह थी कि वे कहीं भी विजेता बनकर नहीं गये। एक बार घटनाओं से प्रभावित होकर लंका में विजयी होकर प्रवेश किया था परन्तु प्रवेश के साथ वहाँ का राज्य युद्ध में मारे गये राजा के छोटे भाई को देकर अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास के सामने एक दृष्टान्त रख दिया था। उनमें युद्ध द्वारा परदेशों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा नहीं थी। उसका परिणाम यह हुआ कि वे जिस देश में भी गये वहाँ के बन गये, वहाँ के निवासियों से उनके सम्बन्ध बहुत गहरे हो गये जिससे उन्हें कहीं से भागना नहीं पड़ा।

यह महात्मा बुद्ध से पहले की बात है। पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध हो गया है कि ईसा से ६८० वर्ष पूर्व भारत के व्यापारियों ने समुद्र के रास्ते से चीन पहुँचकर वहाँ लग गा नाम का शहर बसाया। स्पष्ट है कि लग गा लंका का अपभ्रंश है। जिसे आजकल इण्डोनेशिया कहा जाता है हमारे पुराने ग्रन्थों में उसका नाम स्वर्णद्वीप था। जावा अर्थात् यवद्वीप, सुमात्रा, बाली आदि आसपास के सब द्वीप स्वर्णद्वीप समूह के अन्तर्गत आ जाते हैं। उनकी पुरानी इमारतों के अवशेषों, रीति-रिवाजों और साहित्य को देखकर इसमें सन्देह नहीं रहता कि उन प्रदेशों को मुख्यरूप से भारतवासियों ने ही बसाया था और महात्मा बुद्ध से पहले एक ऐसा समय था जब उन द्वीपों में भारतीय संस्कृति का गौरव था। यही दशा दक्षिण-पूर्वी एशिया के कई अन्य देशों की भी है।

यह तो हुई महात्मा बुद्ध से पहले की बात। महात्मा बुद्ध के पश्चात् तो भारत मानो गंगोत्री का जलस्रोत बन गया। वहाँ से चली

हुई धर्म की धारायें गंगा के जल की तरह दक्षिण-पूर्वी एशिया को सींचती हुई बहने लगीं। महाराज अशोक ने जिन देशों में धर्म प्रचार के लिये प्रचारक भेजे थे उनकी सूची में योरप अफ्रीका और एशिया इन तीनों महाप्रदेशों के देशों के नाम हैं। बौद्ध धर्म के प्रचारक यूँ तो सीरिया मिस्र मसिडोनिया एपीरस आदि एक दूसरे से काफी दूरी पर बसे हुए स्थानों में फैलते गये परन्तु उनका बहुत घना विस्तार बर्मा आसाम आदि भारत के सीमा प्रदेशों में और उनके समीपवर्ती दक्षिण पूर्वी देशों में हुआ।

चीन में बौद्ध धर्म के प्रवेश की एक मनोरंजक गाथा है। १२० विक्रमाब्द में चीन के महाराज मिंग को स्वप्न आया कि पश्चिम दिशा से एक सुनहली ज्योति आकाश-मार्ग से आकर चीन के राजमहलों में प्रविष्ट हुई है। इस स्वप्न का अभिप्राय यह लगाया गया कि यह सुनहली ज्योति भगवान् बुद्ध ही हैं। महाराज मिंग ने आज्ञा दी कि कुछ दूत भारत से बौद्ध-धर्म के आचार्यों को लाने के लिये तत्काल भेजे जायें। विद्वान् दूत गये और बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध आचार्य काश्यप मातंग और धर्मरत्न को अपने साथ लेकर चीन पहुँच गये। इस प्रकार सुदूर पूर्व में बौद्ध धर्म की धारा पहुँची जो कालान्तर में कोरिया होती हुई जापान में प्रविष्ट हो गयी।

उसके पश्चात् भारत से दक्षिण-पूर्व और पूर्व के देशों की ओर धर्म और संस्कृति का प्रवाह निरन्तर बहता रहा। ३६८ ईस्वी में भारत का महाविद्वान बुद्धभद्र चीन गया और ४३० में नन्दी नाम के जहाज में सिंहल द्वीप से भिक्षुणियों की एक बड़ी मण्डली सेवा और प्रचार के लिये चीन को प्रस्थित हुई। भारत के विद्वानों ने चीन में पहुँचकर बौद्ध-धर्म पर अनेक सूत्रग्रन्थ लिखे और बहुत से ग्रन्थों का पाली और संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद किया।

दक्षिण-पूर्व के अन्य अनेक देशों में भारतीयों और भारतीयता के प्रवेश की कहानी बहुत लम्बी है। यहाँ तो उसका संक्षेप में निर्देश ही

किया जा सकता है। कम्बोडिया आजकल हिन्दचीन का एक भाग समझा जाता है। उसे उत्तरीय भारत के कम्बोज नामक प्रान्त के निवासियों ने बसाया था। उसके शासक प्रायः भारत में आते रहे हैं। कहा जाता है कि उनके पूर्व पुरखों ने महाभारत के युद्ध में भाग लिया था। वर्मा और तिब्बत से भारत के केवल धार्मिक सम्बन्ध ही नहीं, सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध भी बहुत गहरे हैं।

जावा, सुमात्रा और बाली आदि द्वीपों के जिस समूह को हमारे पुराने साहित्य में स्वर्णद्वीप के नाम से निर्दिष्ट किया गया है, वहाँ की सभ्यता और संस्कृति में केवल बौद्ध धर्म के ही नहीं, उससे पहले की सभ्यता के भी अनगिनत अवशेष अब तक विद्यमान हैं। महाभारत, रामायण और भारत की अन्य ऐतिहासिक और धार्मिक परम्पराएँ उन द्वीपों में आज भी उसी स्पष्टता से विद्यमान हैं जैसी भारत के ग्रामों में। कुछ समय पूर्व डा० रघुवीर ने उन द्वीपों का भ्रमण करके जो जानकारी प्राप्त की है, उससे ऐसा भान होने लगा है कि भारत और स्वर्णद्वीप मानो एक ही देश के दो प्रदेश हैं।

स्याम, नेपाल आदि देश राजनीतिक दृष्टि से चाहे भारत से कितने ही भिन्न हों, परन्तु धार्मिक और ऐतिहासिक परम्पराओं पर दृष्टि डालें तो वे एक ही नैतिक शरीर के अंग प्रतीत होते हैं। गंगा की घाटी से लेकर यदि मलाया की दक्षिणी नोक तक एक रेखा खींचें तो वह जिन स्थानों में से होकर गुजरेगी, वहाँ यात्रा करता हुआ कोई भारतवासी यह अनुभव नहीं कर सकता कि वह किसी परदेश में जा रहा है। उसे सब जगह अपनेपन के से चिह्न मिलेंगे।

भारत के जिन स्वनामधन्य विद्वानों ने दक्षिण-पूर्व में जाकर धर्म और संस्कृति का विस्तार किया, उनकी सूची बहुत लम्बी है। काश्यप मातंग और धर्मरत्न जो सम्राट मिंग के निमन्त्रण पर बौद्ध-धर्म का सन्देश लेकर चीन गये थे, अपने साथ अनेक ग्रन्थ ले गये थे। चीन जाकर उन्होंने ४२ खण्डों के सूत्र-ग्रन्थों का निर्माण किया और उनका चीन में

विद्वानों ने अन्वेषण द्वारा यह भी परिणाम निकाला है कि दक्षिण अमेरिका की भाषा पर संस्कृत का बहुत अधिक प्रभाव है। यही कारण है कि मक्सिको और पीरू के निवासियों की सूरत-शक्ल रहन-सहन और भाषा पर अब तक भी भारतीयता की झलक दिखाई देती है। जस भारत में एक नाग-जाति की चर्चा हमारे प्राचीन ग्रन्थों में पाई जाती है उसी प्रकार दक्षिण अमरिका में भी नागाओं की चर्चा है।

मैक्सिको के 'मैक्सिकन टाइम्स' नाम के अखबार में एक लेख निकला था जिसमें यह बतलाया गया था कि जब मैक्सिको में स्पेन के निवासी पहुँचे तब वहाँ उन्होंने दो देवताओं की पूजा होते देखी जो इन्द्र और गणेश के रूपान्तर थ। अनुसन्धान से यह भी सिद्ध हुआ है कि भारत के लोग मक्सिको जाते हुए अपने साथ कपास और उसके बीज ले गये और वहाँ कपास का चलन भारतवासियों ने ही किया। यह प्रश्न प्राय उठाया जाता है कि भारतवासी वहाँ तक पहुँचे कैसे ? अब इस प्रश्न का उत्तर देने की आवश्यकता नहीं रही क्योंकि वैदिक काल से लेकर वर्तमान समय तक निरन्तर भारतवासियों के समुद्र पार करके देश-देशान्तरों में जाने और बसने की बात सिद्ध हो चुकी है। प्रतीत होता है कि बहुत प्रारम्भिक काल में जो भारतवासी भारत से पूर्व और पश्चिम की ओर चले थ उनमें कुछ अमरिका में भी पहुँच गये और वहीं बस गये। उनके साथ यहाँ की संस्कृति के सभी अंश वहाँ जा पहुँचे। प्राचीन भारत के सैकड़ों रीति रिवाज दो सदी पहले तक दक्षिण अमेरिका में प्रचलित थ उन रिवाजों में से कुछ निम्नलिखित थे—

वे लोग समय को चार युगों में बाँटते थ। चन्द्रग्रहण के समय ढोल पीटने और प्रार्थना करने की प्रथा उनमें प्रचलित थी। अमेरिका के सब इण्डियन कहलाने वाले लोगों में बंगाल में प्रसिद्ध चरक पूजा का चलन है। मक्सिको के पुराने स्तूप भारत के पुराने स्तूप मन्दिरों के समान ही हैं। सामरस सम्बन्धी विधि विधान भारत के समान मक्सिको में भी मनाये जाते थ। वहाँ के मूर्तों में भी भारत की छाया है। वहाँ की मय

जाति शिल्प-कला में बहुत प्रवीण थी। प्रतीत होता है कि इन्द्रप्रस्थ के बनाने वाले मय-दानव के ही वे लोग वंशज थे। अमेरिका के पुराने निवासी अपने मुर्दों को जलाते थे। उनमें बालकों को जो शिक्षा देने की प्रणाली थी वह भारत की गुरुकुल प्रणाली से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। योगी लोग आदर-सत्कार की दृष्टि से देखे जाते थे। वहाँ के प्राचीन चित्रों इमारतों और दन्तकथाओं पर भारत की स्पष्ट छाप है। कई इमारतें देख कर तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे शायद भारत से उठाकर लाई गई हैं। अब यह बात असन्दिग्ध रूप से मानी जाने लगी है कि अमेरिका के पुराने निवासी केवल नाम से ही इण्डियन नहीं थे वे वस्तुतः भारत के यात्रियों की ही सन्तान थे।

इकत्तीसवाँ अध्याय

भारतीय कलाओं का विकास

जाति के भाव और उनका स्थूल परिणाम दोनों मिलकर उसकी सस्कृति को पूरा करते है। सूक्ष्म और मधुर भावों के परिणामों का नाम कला है। हमने भारतीय सस्कृति के युग-युगान्तरों म फले हुए प्रवाह का धारावाही वर्णन करते हुए बीच-बीच म कलाओं की भी थोड़ी-बहुत चर्चा की है परन्तु यह पुस्तक अधूरी रहेगी यदि इसम कुछेक मुख्य कलाओं के क्रम विकास का संक्षिप्त इतिवृत्त न दिया जाय।

सगीत कला—सगीत सर्वप्रिय और मनुष्यमात्र म व्यापक कला है। अशिक्षित-से अशिक्षित जातियो म भी वह पाई जाती है। भारत के सगीत का विकास हम उसके प्राचीनतम रूप तक तलाश कर सकते हैं। वेद मन्त्र स्वय गेय हैं। सामवेद तो पूरा ही गाय जाने वाले मन्त्रो का समूह है। वेदों के उदात्त अनुदात्त और स्वरित स्वर कहलाते है। वह भारतीय सगीत के बीज हैं। सगीत को प्राचीन भारत में इतना अधिक महत्त्व दिया जाता था कि गन्धर्व वेद नाम का एक अलग उपवेद था। देवमाला म गन्धर्व नाम की एक उपजाति थी जिनका मुख्य काम ही गाना था।

वदिककाल में सामगायन होता था। उस काल म कई वाद्य प्रयोग में आते थ। सबसे प्राचीन ग्रन्थ जिसम सगीत शास्त्र का कुछ स्पष्ट वर्णन मिलता है 'ऋक प्रातिशाख्य' है। इनम तीन सप्तका और सात स्वरो का उल्लेख मिलता है। वदिक काल के साम स्वरो के नाम य थे—क्रुष्ट प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ मद्र अतिस्वार्य। कालान्तर में इनके नाम बदल गये।

वाल्मीकि के रामायण में मृदग वीणा भेरी दुन्दुभि पटह, घट पणव डिंडिम आडम्बर इत्यादि वाद्यों का उल्लेख है। इसमें जातिया

का उल्लेख भी आता है जो कि रागो के पवरूप के समान थी।

महाभारत में सात स्वरों और गान्धार ग्राम का उल्लेख मिलता है।

दक्षिण 'परिपादल' नामक ग्रन्थ में स्वरों और सात पालइ' का उल्लेख है। तामिल प्रदेश में उस समय 'याल' नामक एक वाद्य था। इस वाद्य के कुछ ऐसे प्रकार थे जिसमें १००० तार लगते थ। सीलप्पदिगारम् नामक एक बौद्ध नाटक में वीणा और याल का उल्लेख है। इसी काल का लिखा हुआ तिवाकरम' नामक एक जन कोष है जिसमें सम्पूर्ण षाडव और ओडव रागो और २२ श्रुतियो का जिक्र है।

सगीत शास्त्र पर जो सबसे प्राचीन प्रसिद्ध और विस्तृत ग्रन्थ मिलता है वह भरत का 'नाट्य शास्त्र है। इसमें भरत न स्वर श्रुति ग्राम मूर्छना और नृत्य पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। नाट्यशास्त्र में षड्जग्राम और मध्यमग्राम का वणन है। भरत के समय में राग नहीं थ 'जाति थी। भरत न १८ जातियों का वणन किया है। नाट्यशास्त्र में नृत्त नृत्य और अभिनय का अधिक विवरण मिलता है गीत का कम।

'जाति के स्थान में 'राग भारतीय सगीत में कब से आया यह कहना कठिन है। अभी तक जो सबसे प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त हुआ है जिसमें राग का वर्णन सबसे पहल मिलता है वह मतग का वृहद्दशी है।

गुप्तकाल में सगीत की पर्याप्त उन्नति हुई। प्रयाग की प्रशस्ति में लिखा है कि सम्राट समुद्रगुप्त सगीत का बहुत बडा प्रमी था और इसम उसन तुम्बरु और नारद को भी लज्जित कर दिया था— 'गान्धर्वललित व्रीडितत्रिदशपतिगुरु तुम्बुरुनारदादे।

नारद शिक्षा की रचना जिसके विषय में कुछ लोगो की भ्रमपूर्ण धारणा है कि नारद की कृति है १०वी और ११वी शताब्दी के बीच में मानी जाती है। इसमें भी 'जाति' क स्थान में राग-पद्धति का ही विस्तृत वणन है।

१२वी शताब्दी में जयदेव नामक विख्यात सगीतज्ञ हुए जिनका गीत-गोविन्द' जगत प्रसिद्ध है। इनक गीतों की रचना प्रबन्धों में हुई।

प्रत्येक प्रबन्ध के विषय में यह लिखा हुआ है कि यह किस राग और ताल में गाया जायगा। उदाहरणार्थ प्रथम प्रबन्धो मालवरागेण रूपकताल गीयते। अथ द्वितीय प्रबन्धो गुजरीरागेण प्रतिमठताले गीयते। ये प्रबन्ध स्वरलिपि में नहीं लिखे हुए हैं। इसलिये यह कहना कठिन है कि जयदेव इनको किस प्रकार गाते थे। आजकल लोग इन्हें इन राग और तालों में नहीं गाते। इतना स्पष्ट है कि जयदेव के प्रबन्ध में ध्रुव और आभोग ही प्रधान थे। उनके प्रबन्ध में उद्ग्राह, मेलापक और अन्तरा ये अवयव नहीं थे।

१३वीं शताब्दी का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ शारंगदेव द्वारा रचित संगीत रत्नाकर है। संगीत रत्नाकर प्राचीन ग्रन्थों में संगीत का सबसे विस्तृत ग्रन्थ है। शारंगदेव देवगिरि के यादववंश के दरबार के संगीतज्ञ थे। ग्रन्थ के देखने से जान पड़ता है कि इनको उत्तर और दक्षिण दोनों के संगीत का अच्छा ज्ञान था। इनके ग्रन्थ में गीत, वाद्य और नृत्य तीनों का विस्तृत वर्णन है। मतंग के समय तक जाति का लोप हो गया था और उसका स्थान राग ने ले लिया था। शारंगदेव के समय में कुछ नये राग हो गये थे जिनको उन्होंने अधुना प्रसिद्ध राग कहा है। शारंगदेव ने अपने समय के प्रसिद्ध रागों का प्राचीन रागों से मिलान का प्रयत्न किया है पर उन्होंने स्पष्ट रूप से यह वर्णन नहीं किया कि उनके समय के राग प्राचीन राग से किस प्रकार निकले अथवा प्राचीन रागों की जाति से किस प्रकार उत्पत्ति हुई। अतएव इतने बड़े ग्रन्थ में भी रागों के विकास का कोई शृंखलाबद्ध क्रम नहीं मिलता। उनके ग्रन्थ में दिए हुए रागों को समझना बहुत कठिन हो गया है और यह पता नहीं लगता कि वर्तमान रागों से इन रागों का क्या सम्बन्ध है।

उत्तरी भारत के रागों को समझने के लिये जो सबसे प्राचीन ग्रन्थ अभी तक प्राप्त हुआ है वह है लोचन कवि द्वारा रचित राग तरंगिणी। लोचन कवि ने इसके रचना-काल को इन शब्दों में वर्णन किया है—

मुवबसुदन्तमितशाके श्रीमदवल्लालसेन राज्यादौ।
वर्षैकषष्टिभोगे मुनयस्त्वासन् विशाखायाम ॥

'मुवबसुदन्तमितशाके' स पण्डितों न १०८२ शक सम्वत निकाला है जो कि ११६२ ईस्वी सन क बराबर है। इस ग्रन्थ के "स्वर सना प्रकरण" दा देखन स पता चलता है कि लोचन कवि का शुद्ध ठाट वही था जिसे आजकल काफी कहते हैं। आगे चलकर ग्रन्थकार न कहा है कि पहले १६०० राग माना है इसका कुछ पता नहीं चलता। उन्होंने जिन ३६ रागों का उल्लेख किया है उनमें स ६ राग हैं और प्रत्येक राग की ६ रागिनियाँ। रागो के नाम लोचन कवि न इस प्रकार दिए हैं—

भरव कौशिकश्चैव हिंदोलो दीपकस्तथा।
श्रीरागो मेघरागश्च षडेते हनुमन्मता॥

उत्तरी भारत के सगीत क लिए १४वीं और १५वीं शताब्दियाँ बहुत हा महत्त्वपूर्ण हैं। इस समय में उत्तरी भारत के सगीत पर मुसलमान सगीतज्ञों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। कई रागों में परिवर्तन हुआ कई रागों की कायापलट हो गई कई नय राग बन। इसी समय स हिन्दुस्तानी और कर्नाटक सगीत में अधिक भिन्नता आ गई। सुलतान अलाउद्दीन के दरबार में अमीर खुसरु नाम के एक प्रसिद्ध सगीतज्ञ थ। उत्तरी भारत में कव्वाली पद्धति की गायकी इन्होंने चलाई। कहा जाता है कि जीलफ, सार्जगिरि, सरपर्दा इत्यादि राग इन्हीं क बनाए हुए हैं। सितार जो कि वीणा क आधार पर बना हुआ है अमीर खुसरु का ही आविष्कार कहा जाता है।

बगाल में चैतन्य महाप्रभु द्वारा लोकप्रिय गान सकीर्तन का बहुत प्रचार हुआ।

ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर ने ध्रुवपद की गायकी का उत्थान कर उसे बहुत प्रोत्साहित किया। कुछ विद्वानों का मत है कि ध्रुवपद की गायकी का इन्होंने आविष्कार किया। इनके दरबार में नायक बख्शू नाम के एक प्रसिद्ध गायक थ। राजा मानसिंह की आज्ञा से "मान

कुतूहल नाम का सगीत का एक वृहद् ग्रन्थ तयार हुआ जिसका फक्र-उल्ला ने फारसी म अनुवाद किया था। यह मानसिंह तोमर अकबर के सरदार मानसिंह स भिन्न थ।

अकबर के समय म हिन्दुस्तानी सगीत को बहुत प्रोत्साहन मिला। इनके दरबार में बहुत स गायक थ जिनमे तानसेन सबस अधिक प्रसिद्ध थे। कहा जाता है कि मुसलमान होने के पूव इनका नाम तन्नमिश्र था। इनके खानदान के लोग 'सनिय' कह जाते हैं। इन्होने कई रागो मे परिवतन किए और कुछ राग जिनम मियाँ लगा हुआ होता है जसे मियाँ की टोडी मियाँ की मल्लार इन्ही के आविष्कार हैं। उत्तरी भारत म आजकल जो राग-पद्धति है उस पर तानसेन की अमिट छाप है। तानसेन ने रबाब' नाम के एक वाद्य का भी आविष्कार किया था। उनके घराने के लोग कुछ, जो 'रबाब बजाते थ पीछे से रबाबियार' कहलाए और कुछ जो बीन बजाते थ वे बीनकार कहलाए। पर अकबर के ही समय म तानसेन स बढकर एक सगीतकलाविद् थे जिनका नाम था हरिदास स्वामी। तानसेन इनके शिष्य थ। हरिदास स्वामी वृन्दा बन म रहत थे और अपने ध्रुवपद रचकर भगवान कृष्ण को सुनाते थ। इस समय ध्रुवपद की गायकी अपनी पराकाष्ठा पर थी। इसी काल में मीरा सूर और तुलसी भी हुए जिन्होने अपने भजनों से मानव-हृदय को अपूव शान्ति प्रदान की।

पुडरीक विट्ठल नाम क सगीत के एक बडे भारी पडित भी इसी समय म हुए। पहल यह खानदेश म बुरहानपुर म फर्रुखिया के बुरहानखाँ के दरबार म थे। जान पडता है कि इस समय उत्तरी भारत क रागो म बहुत कुछ गडबडी आ गई थी। सगीतप्रिय बुरहानखाँ ने पुण्डरीक को उत्तरी भारत क सगीत को सुव्यवस्थित करने की आज्ञा दी थी।

१५५० ई० के लगभग राम अमात्य ने 'स्वरमेल कलानिधि' लिखा। इसम कर्नाटक सगीत का बहुत ही विशद वणन है। १६१० ई० में दक्षिण के प्रसिद्ध पडित सोमनाथ न राग विबोध की रचना की।

इन्होंने दक्षिण और उत्तर दोनों संगीत-पद्धति के स्वरनामों का प्रयोग किया है। सोमनाथ ने रागों का जनक और जन्य भागों में वर्गीकरण किया है।

जहाँगीर के समय में लगभग १६२५ में दामोदर मिश्र ने संगीत दर्पण नामक एक ग्रन्थ लिखा था। इसमें उन्होंने शारंगदेव से बहुत सी बातें ली हैं पर संगीतरत्नाकर की भाँति यह भी दुर्बोध हो गया है।

शाहजहाँ के समय में कई संगीतज्ञ हो गए हैं जिनमें जगन्नाथ और लालखाँ प्रसिद्ध हो गये हैं। जगन्नाथ को कविराज की उपाधि मिली थी। लालखाँ तानसेन के घराने के थे। कहा जाता है कि एक बार शाहजहाँ ने जगन्नाथ और एक दूसरे संगीतज्ञ दारंगखाँ को उनके तौल के बराबर रुपया दिया।

औरंगजेब को तो संगीत से चिढ़ था। अतएव उसके दरबार में कोई संगीतज्ञ नहीं रहा।

१७वीं शताब्दी में अहोबल पंडित ने "संगीत पारिजात" नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा जो कि उत्तरी भारत के संगीत को समझने के लिए बहुमूल्य ग्रन्थ है। इसका १७२४ ई० के लगभग फारसी भाषा में अनुवाद हुआ था। संगीत पारिजात का शुद्ध ठाट वही है जो आजकल काफी राग का है। यह कर्णाटक के खरहरप्रिया ठाट से मिलता है। संगीत पारिजात में १२२ रागों का वर्णन है।

भावभट्ट नामक संगीतज्ञ भी इसी काल के हैं। उनके पिता का नाम जनार्दन भट्ट था जो कि शाहजहाँ के दरबार में थे और जिनको 'संगीतराज' की उपाधि मिली थी। शाहजहाँ की मृत्यु के पश्चात् भावभट्ट बीकानेर आ गए और अनूपसिंह के दरबार में रह गए। भावभट्ट ने 'अनूप संगीतरत्नाकर' 'अनूपविलास' और "अनूपांकुश" नामक ग्रन्थ लिखे हैं। भावभट्ट का शुद्ध ठाट "मुखारी" है। इन्होंने सब रागों का २० ठाटों में वर्गीकरण किया है।

मुहम्मदशाह बादशाह के काल में सदारंग और अदारंग दो बहुत

प्रसिद्ध गायक थे। इन्होंने ख्याल की गायकी को प्रोत्साहित किया। इसी काल में शोरीमियाँ ने टप्पा का आविष्कार किया।

दक्षिण में तंजोर के मराठा राजा तुलजाजी अच्छे संगीतज्ञ थे। इन्होंने 'संगीत सारामृत' की रचना की थी।

उत्तर के रागों में बहुत ही गड़बड़ी देखकर जयपुर के महाराज प्रतापसिंहदेव ने प्रसिद्ध संगीतज्ञों का एक सम्मेलन किया और उन लोगों के सहयोग से 'संगीतसार' नामक ग्रन्थ तैयार करवाया। इसका शुद्ध ठाट विलावल है।

अर्वाचीन काल में पूना गायन समाज ने कुछ अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित किए। पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने कई ख्याल, ध्रुवपद, भजन, टप्पे स्वरलिपि में प्रकाशित किये हैं। पंडितजी के ग्रन्थों की एक विशेषता यह है जो अन्य ग्रन्थों में नहीं पाई जाती कि उन्होंने कई भजन, ख्याल इत्यादि आलाप, तान, बोलतान, सरगम, लयकारी इत्यादि के साथ प्रकाशित किये हैं। इनसे यह पता चलता है कि २०वीं शताब्दी के गायक की गायन-शैली क्या है, एक राग का पूर्ण विस्तार किस प्रकार होता है, उसको किस प्रकार सजाते हैं। आधुनिक गायन-शैली का क्रियात्मक रूप से ऐसा पूर्ण चित्र अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

पंडित वि० ना० भातखण्डे आधुनिक युग के बहुत बड़े संगीतशास्त्री हुए हैं। इन्होंने इस विद्या के पुनरुद्धार के लिये अथक परिश्रम किया है। इन्होंने पंडित व्यंकटमखी के मेलकर्ता के आधार पर हिन्दुस्तानी रागों का ठाठों में वर्गीकरण किया है और उत्तरी भारत के संगीत को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। 'चतुर पंडित' के उपनाम से इन्होंने संस्कृत में 'लक्ष्य संगीत' नाम के एक बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ की रचना की है। इसके अतिरिक्त इन्होंने भिन्न भिन्न स्थानों से संग्रह कर 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' क्रमिक ६ भागों में सहस्रों ख्याल, ध्रुवपद, धमार, तराने इत्यादि प्रकाशित किये हैं। 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' नामक ग्रन्थ के चार भागों में, जिनमें लगभग २५०० पृष्ठ हैं,

इन्होंने संगीतशास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों का बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। इन ग्रन्थों के आधार पर आगे विचार किया जा सकता है और जो कुछ कमी दिखाई दे उसकी पूर्ति हो सकती है। कदाचित् किसी भी विद्वान् ने आज तक एक जीवन-काल में संगीतशास्त्र की इतनी सेवा न की होगी जितनी पंडित भातखण्डजी ने की है।

हैदराबाद निजाम के यहाँ संगीत विद्वान् पंडित अप्पा तुलसी ने 'संगीत कल्पद्रुमांकुर' नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमें उन्होंने श्री भातखण्ड के लक्ष्य संगीत की मुख्य बातों को अपने ढंग से संस्कृत श्लोकों में लिखा है। उन्होंने संस्कृत में 'रागचन्द्रिका' नामक एक और ग्रन्थ लिखा है। संस्कृत न जानने वालों के लिये उन्होंने हिन्दी में 'रागचन्द्रिकासार' लिख दिया है।

शिल्प—अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में उत्कृष्ट कोटि के शिल्पी विद्यमान थे इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। वेदों से लेकर पुराणों तक का जितना साहित्य है, उसमें भाँति भाँति के वस्त्रों आभूषणों और अन्य सुन्दर सामग्रियों की चर्चा है। मोहञ्जोदारो हड़प्पा आदि स्थानों में जो प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं उनमें सुन्दर यतना और सौन्दर्य-साधना की सामग्री के चिह्न मिलते हैं।

मौर्य साम्राज्य में तो अनेक मूर्तियों चित्रों और विदेशी यात्रियों के वर्णनों से यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि उस समय भारत में उत्तमोत्तम शिल्प विद्यमान थे जिनकी रचनायें न केवल देश में अपितु देश से बाहर भी जाकर बिकती थीं।

जिन शिल्पों को अत्यन्त नवीन समझा जाता है जब प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन किया जाय तो उनकी विद्यमानता भी सिद्ध हो जाती है। शुक्रनीति में इतने प्रकार की कारीगरी तथा उसकी रचनाओं का वर्णन है कि पढ़कर आश्चर्य होता है। सोना चाँदी ताँबा लोहा टीन मोती हीरे के गुण उनकी परीक्षा और घड़ने के ढंग और उनसे बनने वाले आभूषणों के वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बारीक से

बारीक कारीगरी के जानने वाले शिल्पी उस समय विद्यमान थ ।

विमान को वतमान समय की सबसे बडी वज्ञानिक विभूति माना जाता है । समझा जाता है कि पश्चिम के उद्भावित विज्ञान की यह सबसे बडी सफलता है परन्तु जब सस्कृत के पुराने वाङ्मय का अनुशीलन किया गया तो परिस्थिति ही बदल गई । अभी हाल म भारद्वाज सहिता नाम का महान् ग्रन्थ मिला है उसम अनेक प्रकार के विमानों की रचना का सागोपाग वणन है । उस ग्रन्थ स यह भी विदित होता है कि विमान निर्माण विद्या के विषय म उससे पूव भी अनेक आचार्यों ने मौलिक ग्रन्थ लिखे । उसे पढकर हिमालय के निवासी पुराने देवताओं के विमानों के अथवा कुबेर के अद्भुत पुष्पक विमान की चर्चा केवल काल्पनिक नही रहती वह सवथा सत्य प्रतीत होती है । विमान के बनाने में जिन धातुओं तथा अन्य वस्तुओं का प्रयोग होता है यदि केवल उनकी सूची ही बनाई जाय तो इसम सन्देह नही रहता कि अत्यन्त प्राचीन काल म भारतवष म उच्चतम शिल्प-कला विद्यमान थी ।

अस्त्रास्त्रा का निर्माण साधारण शिल्प-कला से नही हो सकता । कभी लोग समझते थे कि रामायण और महाभारत में जिन आग्नेय वायव्य सम्मोहन आदि अस्त्रा का वणन है वह केवल काल्पनिक है परन्तु आज वह विचार निमूल सिद्ध हो गया है । अन्य बहुत से प्रमाणो को जाने भी दें तो अकेली भारद्वाज सहिता ही यह सिद्ध करने के लिय पर्याप्त है कि भारत म पश्चिम के वर्तमान अस्त्रास्त्रों के निर्माण से बहुत पहल उन वैज्ञानिक तत्त्वों का अन्वेषण हो चुका था जिन्हे आजकल सर्वथा अर्वाचीन माना जाता है ।

महाभारत म कृष्ण के जिस सुदशन चक्र का वणन आता है, उसे पहले कोरी कवि-कल्पना माना जाता था परन्तु जबसे आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियो के बूमेरांग नाम के अस्त्र का पता चला है, तबसे यह निश्चय हो गया है कि सुदशन चक्र यथार्थ वस्तु थी । बूमेराग की निम्न लिखित विशेषताएँ हैं—

१ वह फेंकने वाले की इच्छानुसार चलता और चढ़ता-उतरता है।
२ अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचकर परिक्रमा कर सकता है।
३ लौटते हुए भी वह फेंकने वाले की इच्छानुसार गति करता है।
४ एक ही उड़ान में कई शिकार कर सकता है।
५ अन्त में फेंकने वाले के पास आ जाता है।

यही विशेषताएं सुदर्शन चक्र की थीं। केवल उसकी रचना शिल्प कला की दृष्टि से बहुत बढ़ी चढ़ी थी।

प्राचीन समय के एक अमोघ शस्त्र का नाम 'शक्ति' था। यदि उसके सामर्थ्य और रूप की तुलना आजकल के मिसिल से करें तो कोई सन्देह नहीं रहता कि उनकी सत्ता यथार्थ थी।

इतिहास के विद्यार्थी के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह सब कारीगरी लुप्त क्यों हो गई? महाभारत के पश्चात् उन सब शस्त्रास्त्रों का वर्णन क्यों नहीं मिलता। इसका समाधान सर्वथा स्पष्ट है। महाभारत में न केवल देश के क्षत्रियों का अन्य सभी जातियों तथा समर्थ पुरुषों का संहार सा हो गया। जो बच रहे उनका राजाश्रय जाता रहा। फल यह हुआ कि युगों का संचित ज्ञान-विज्ञान और शिल्प उस खण्ड प्रलय में विलीन हो गया। उसके पश्चात् धीरे धीरे जाति का पुनर्निर्माण सा ही हुआ। अभी निर्माण पूरा नहीं हुआ था कि विदेशियों के आक्रमण आरम्भ हो गये जिससे आन्तरिक उन्नति में बहुत बाधा पड़ गई।

बौद्ध, विक्रम तथा उसके उपरान्त आने वाले समयों में शिल्प की पर्याप्त उन्नति होती रही जिसकी चर्चा स्थान स्थान पर आ चुकी है।

चित्रकला—सन १८६३ ईस्वी में राबर्ट ब्रूस फूट ने मद्रास के समीप पूर्व प्रस्तर युग का एक शिलाखण्ड ढूंढा था। सन् १८८० में आर्चिबाल्ड कार्लाइल और जे० काकबर्न की खोज और अध्यवसाय से मिर्जापुर में ऐसी अनेक चित्रयुक्त चट्टानें मिलीं जो बहुत ही प्राचीन हैं और जिन पर पशु की पोशाक पहने हुए मनुष्यों के चित्र अंकित हैं। तत्पश्चात्

सिंघनपुर (मध्य प्रदेश) और जोगीमारा (सरगुजा रियासत) आदि स्थानों में भी चट्टानों पर चित्र देखे गये हैं। इन पर विभिन्न प्रकार के रेंगते हुए वाले मनुष्य पशु पक्षी और सूअर आदि की लाल गेरू के रंग में रंगी हुई आकृतियाँ बनी हैं। आजमगढ़ में भी इसी प्रकार की पाषाण चित्रकारी उपलब्ध हुई है। अभी तक पुरातत्ववेत्ता भारत के विभिन्न भागों में पाये जाने वाली इस प्रस्तर कला का ठीक-ठीक विश्लेषण नहीं कर पाये हैं और न ही इसकी प्राचीनता और समय का ठीक अनुमान कर सके हैं। तामिलनाडु आंध्र मध्य प्रदेश छोटा नागपुर उड़ीसा होशंगाबाद पंजाब उत्तर प्रदेश नर्मदा उपत्यका आदि स्थानों में प्रागैतिहासिक हथियार वस्त्र और उपयोग में आने वाले भाँति भाँति के बर्तन मिले हैं। ये सहस्राब्दियों से एक-सी स्थिति में ज्यों के-त्यों हैं और उन्हें भिन्न कालों का बताया जाता है।

इन पुरातात्विक खोजों से भारतीय प्रागैतिहासिक कला के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा नहीं बन पाई थी। ऐसा तो सहसा तब हुआ जब सन् १९२४ में सर जान मार्शल और डॉक्टर अरनेस्ट मके के उद्योग से सिन्धु और रावी के तट पर हजारों वर्ष पहले की अत्यन्त समृद्ध आर्य-पूर्व सभ्यता के केन्द्र मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा का पता लगा। पृथ्वी के अन्तस्थ में छिपे पड़े इन नगरों में पक्की ईंट के बने चौकोर मकान स्नानागार सभा भवन तालाब सुन्दर ढंग से बनी हुई नालियाँ बर्तन ठप्पे जवाहरात आभूषण मूर्तियाँ आदि महत्वपूर्ण वस्तुएँ प्रकाश में आई हैं। कुछ ऐसी मुद्राएं भी निकली हैं जिनकी लिपि अभी तक नहीं पढ़ी जा सकी है। मुद्राओं पर भगवान् शिव के वाहन नन्दी के चित्र अंकित हैं। सम्भव है उन दिनों शैव मत का प्राधान्य रहा हो। नाग-पूजा के भी प्रतीकात्मक चिह्न मिले हैं और बर्तन एवं ठप्पों पर हाथी बैल गैंडा घड़ियाल भैंस कुत्ता कछुए आदि के चित्रों से उस समय के लोगों की पशुओं के प्रति कोमल भावना का बोध होता है। पार्वती दुर्गा काली आदि की प्रतिमाएँ भी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित

मिली हैं। सिंधु उपत्यका की यह उपलब्ध सामग्री सुमेरियन वस्तुओं से टक्कर लेती है अतएव दोनों में परस्पर सम्बन्ध-सूत्र का संधान किया जा रहा है।

मुद्राओं की चित्र लिपि बलूचिस्तान में ब्राहुई नामक द्राविड़ भाषा और सुमेर एवं एलाम के चिह्नों से बहुत कुछ मिलती है। इतिहासकारों और भाषाविदों का मत है कि प्राचीन मिस्र, बेबीलोनिया, मेसोपोटामिया, एलाम और सुमेरिया की सभ्यताओं में घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और यह भी सम्भावित है कि सुमेर-द्राविड़ लोग सामुद्रिक मार्गों से एक स्थान से दूसरे स्थानों में घूमते रहे हों और कालान्तर में उनकी सभ्यताओं में समानता के साथ-साथ कुछ विभिन्नता भी आ गया हो। खुदाई में प्राप्त मनुष्य की खोपड़ियों से भी सम्मिश्रित जातीय तत्वों का बोध होता है जिसमें आर्येतर द्राविड़ और मंगोल लोगों की आकृतियों से अधिक समानता दीख पड़ती है।

मोहेंजोदड़ो में ऐसे चित्र भी मिले हैं जिन पर आर्य सभ्यता की स्पष्ट छाप है। तिलक, यज्ञोपवीत, जूड़े के आकार में बंधे हुए केशों में कंघा खोंसे हुए मनुष्यों के चित्र आदि देखकर लगता है कि बाद में आर्य सभ्यता का मिश्रण उसमें अवश्य हुआ होगा। जो हो इन दोनों नगरों की वृहद् एवं सुगठित योजना, सुन्दर प्राचीर, स्नानागार और मध्य भाग में एक विशाल प्रांगण, प्रांगण में एक भव्य जलाशय, जिसके उत्तर और दक्षिण में उतरने की सीढ़ियाँ, जल बाहर फेंकने के लिए गहरी और सुव्यवस्थित नालियाँ, जलाशय के चारों ओर चिकनी ईंटों का एक चौतरा, पीतल, ताँबे, सोने, चाँदी और काँसे के आभूषण, सींग के कड़े और चूड़ियाँ, चक्राकार सिर वाले बालों के पिन, पच्चीकारी का हुई प्लास्टिक की बनी चीजें, मिट्टी और सलखड़ी की मूर्तियाँ आदि के निर्माण-कौशल को देखने से सहज ही अनुमान होता है कि यहाँ प्राचीन काल में सहस्रों वर्ष तक धन जन से समृद्ध सभ्यता पनपती रही होगी और सिंधु रावी

जैसी महानदियों के तट पर स्थित होने के कारण किसी समय बाढ़ ने इन्हें ढक लिया होगा।

वृहत्तर भारत व इर्द-गिर्द जावा सुमात्रा मलाया स्याम बाली कम्बोडिया हिन्देशिया चम्पा नेपाल तिब्बत ब्रह्मा लंका और अफगानिस्तान आदि पड़ोसी देशों की कला धर्म संस्कृति एवं भाषा में परस्पर आदान प्रदान होता रहा है और वे बिलकुल घुल मिल सी गई हैं। सदियों से नाता टूटने पर भी इन देशों की कला विशिष्ट तत्त्वों को समेट भीतर ही भीतर पुष्ट होती रही और ऊपर से थोपी हुई न होकर क्रमशः अपनी ही कला चेतना का अंग बन गई। भारत के अन्तर्गत उत्तर पूर्वी केन्द्रीय और दक्षिणी वर्गों में लगभग ढ़ाई करोड़ आदिवासी फैले हुए हैं। हिमालय की तराई और आसाम राज्य के आस-पास लेपचा गारो खासी मिकिर सिंगफू और नागाओं में कोन्यक सेमा अंगामी आदि जनजातियाँ केन्द्रीय वर्ग में विन्ध्याचल सतपुड़ा महादेव मेकल और अजन्ता की ढलानों हैदराबाद उत्तर-पश्चिम नर्मदा और गोदावरी के पार्वत्य प्रदेशों के आदिवासी उड़ीसा का कांद खड़िया सिंहभूम और मानभूम छोटा नागपुर की संथाल उरांव और मुण्डा केन्द्रीय पार्वत्य भूभागों की कोल-गोंड और भील दक्षिणी वर्ग में कृष्णा नदी के इतस्ततः छितरी हुई नल्लामलाई पहाड़ियों की चेंचू नीलगिरि की टोडा ट्रावनकोर कोचीन की कादार कानीकर माला और कुरावन उत्तरी ध्रुव की एस्किमो आदि आदिम जातियाँ आज भी अपनी पूर्व स्थिति में ही बनी हुई हैं। राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था में इन जनजातियों का कोई हाथ न होने पर भी इतिहासज्ञ और पुरातत्त्ववेत्ताओं के प्रयास में इनकी प्रागैतिहासिक कला-कृतियों का संरक्षण किसी प्रकार किया जा सका है। गृह सज्जा का बहुत सा सामान अस्त्र-शस्त्र और इनके प्राचीन आदर्श एवं परम्पराओं के जीवित प्रतीक नष्ट होने से बच गये हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी सुरक्षित चले आ रहे हैं।

बौद्ध काल और विक्रम काल के जो अवशेष मिलते हैं, उनसे उस

समय की मूर्तिकला की विशेषताएं स्पष्ट झलकती हैं। ये अवशेष दो प्रकार के हैं स्तूपों वाला और गुफाओं के रूप में और मूर्तियों के रूप में। इन दोनों के दर्शन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारत की मूर्तिकला अपना सब विशेषताओं को लिये हुए विकसित हो रही थी। उसकी सबसे बड़ी विशेषता था उसकी आध्यात्मिक भावना। प्रत्येक चित्रकार जिस चित्र को बनाता है उसमें अपने हृदय के भावों को सूचित करता है। प्राचीन भारत के चित्रकारों के चित्रों में एक ऐसी आध्यात्मिकता और माधुर्य की भावना झलकती थी जो यूरोप के प्रसिद्ध ग्रीक चित्रकारों को भी दुर्लभ थी।

भारतीय चित्रकला के विषय में हैवेल ने लिखा है—

'योरप की चित्रकला के पंख कट गये हैं। वह केवल भौतिक सुन्दरता को पहिचानती है। भारतीय कला आकाश में उड़ती प्रतीत होती है क्योंकि वह पृथ्वी पर स्वर्ग के सौन्दर्य को लाने का यत्न करती है।

यही कारण है कि बौद्ध जैन और पौराणिक काल के चित्रों में हम एक शान्ति और गम्भीरता पाते हैं। चित्रकार चेहरे पर और शरीर के व्यवस्थापन में शारीरिक सौन्दर्य की अपेक्षा भावों की अभिव्यक्ति को लाना अधिक पसन्द करते थे। देवी-देवताओं की महात्मा बुद्ध की और जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों में कवि की आध्यात्मिक भावनायें होती हैं। शारीरिक सौन्दर्य के आकर्षण की परवाह नहीं की गई। मुसलमानों के समय में चित्रकला के विकास में अधिक प्रगति नहीं हुई। जो कुछ हुई वह विशेष रूप से दक्षिण और राजपूताने तक परिमित थी।

आधुनिक चित्रकला—१८२४ में विदेशी संस्कृति की दृढ़ पृष्ठभूमि पर कलकत्ता के कला विद्यालय की स्थापना हुई। इस विद्यालय का अस्तित्व एक मात्र ब्रिटेन की प्रेरणाओं पर आधारित था। यह बात हमारे देश के लिये बड़ी लज्जास्पद है कि इस काल में ब्रिटेन की शुद्ध श्रेणि कला तो उतनी ग्राह्य नहीं बन सकी जितनी निम्न स्तर का।

भनेक व्यवधानो में मध्य रवि वर्मा नामक एक उत्कृष्ट प्रतिभाशाली भौर ध्ययनिष्ठ व्यक्ति हमारे समक्ष आया। उन्होने सीमित क्षेत्र म भी कुछ करके दिखाया। उन्होने अपने द्वारा निर्मित वस्तुओ मे एक मात्र विक्रय का ही दृष्टिकोण नही रखा अपितु उनमे यथेष्ट रागात्मकता का भी समावेश किया। उन्होने पुराणो की कथाओ को आधार बनाकर अनेक चित्रो का अकन सादगी भरे रगो और सरल शैली म किया। यह कहा जा सकता है कि उनका वास्तविक कार्य श्रणिक न होकर कला के प्रचार प्रसार का अधिक था।

भारत म ब्रिटिश साम्राज्य के काल म कला को दो अग्रजो द्वारा विशेष प्रोत्साहन मिला यह बताना हमारी सस्कृतिगत चेतना के लिये एक प्रकार का आह्वान है। ये दो अग्रज थे लार्ड कर्जन और ई वी हावेल। कर्जन तो भारत की स्थापत्य कला को देखकर विस्मित ही रह गया था। हावल ने जो कलकत्ता स्थित कला विद्यालय का प्रिंसिपल भी था भारत के उदीयमान कलाकारो म पश्चिम की कला को अनुसरण करने की प्रवत्ति को तीव्रता से अनुभव किया और उसने इस बात पर बल दिया कि भारतीय अपनी परम्परागत कला-पद्धतियो को ही ग्रहण कर। लगभग उसी समय डा आनन्द कुमार स्वामी ने दार्शनिक पृष्ठभूमि की आवत्ति के रूप म अपनी कला का प्रदर्शन विदेशो की अन्तर्राष्ट्रीय जनता के समक्ष किया। पुनरावृत्तिपरक दृष्टिकोण का जो प्रभाव हमारी सामाजिक भावनाओ पर है उसका अविस्मरणीय एतिहासिक महत्त्व है।

डा० अवीन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व मे कुछ नवीन कलाकारो ने अपने का राजपूत मुगल और अजन्ता की चित्र-शलियो को व्यापक रूप मे पुनर्जीवन दने म लगा दिया। इस प्रकार उन्होने हावल की कल्पनाओ और विचारो को मूतरूप दिया।

कला म इस नव-जागरण से बाह्य आडम्बर और चमक-दमक का प्रभाव बहुत अशो म लुप्त हो गया। अब कला साहित्यिक और काव्य मयी भावनाओ की ओर अभिमुख हुई। शैली की दृष्टि स भी भारतीय

कलाकार यूरोपीय तलीय रंगों के चित्रण को छोड़कर जलीय रंगों के चित्रण पर उतर आए। यह परिवर्तन पश्चिम के प्रति या समस्त विदेशी दृष्टिकोणा के प्रति नहीं था। दूसरी ओर चीनी और जापानी कला का अध्ययन भारत में अभिरुचि और गहनता के साथ किया गया। चीन की रेखा-पद्धति प॰ चित्र निर्माण शैली का प्रचलन हुआ और जापान न रंगों का माध्यम विविधता तथा अद्भुत सामञ्जस्य हमें दिया।

इसी समय भारतीय चित्रकला म एक अ य नवीन क्रान्ति का समावेश दृष्टिगोचर होता है। इसके द्वारा परम्परा पर अनावश्यक बल और अलक्ष्य प्रकृतिवाद दोनों की वर्जना की गई। श्री गगनेन्द्रनाथ ठाकुर यामिनी राय अमृता शेरगिल प्रभृति इस नवीन परम्परा के मुख्य सूत्रधारा म म य। कवीन्द्र रवीन्द्र की बहुत सी कलाकृतियाँ सौन्दय की मर्मस्पर्शी भावना और विश्व की निगूढ़ता स ओतप्रोत हैं उनका चित्रण अन्तरात्मा को आलोडित कर डालता है। उनक भतीजे गगनेन्द्र नाथ ठाकुर ने कला को समाज की यथार्थवादिता की ओर मोड़ा। इस प्रकार हम पाते हैं कि बगाल के पुनरावर्तिकारो ने अतीत की उत्कृष्ट परम्पराओं को निभाया है और एक नवीन दृष्टिकोण लेकर उन्हें आगे भी बढ़ाया। भारत की परम्पराओं मे एक विशिष्ट लोककला का अपना महत्व रहा है। इसी लोककला का उन्नयन श्री यामिनी राय ने शैली की आधुनिकता को माध्यम बनाकर किया। अमृता शेरगिल की माँ हंगेरियन और पिता भारतीय थ। उनकी शिक्षा-दीक्षा पेरिस में हुई थी। उनकी कला में पूर्व और पश्चिम की भावनाओं और शैलियों का अद्भुत सामञ्जस्य परिलक्षित होता है।

आधुनिक चित्रकला के क्षेत्र म विभिन्न शैलियों और भावाभिव्यक्तियों के कारण कुछ जटिलता भी इङ्गित होती है। फिर भी आज की कला निरन्तर प्रगति की द्योतक है। भारत की आधुनिक कला अन्तर्राष्ट्रीय गौरव और राष्ट्रीय सम्भावनाओं का एक अच्छा प्रतीक भी

है। उसमें परम्परा और ऐतिहासिक विकास भी समुचित रूप में हुआ है। आधुनिक कलाकार भी आज परम्परागत कथाओं में विशेष अभिरुचि लेते प्रतीत होते हैं।[१]

मूर्तिकला तथा वास्तुकला

प्रागैतिहासिक—भारत की मूर्तिकला और वास्तुकला का प्रारम्भिक युग अन्धकार से आवृत्त है। मोहेंजोदड़ो हड़प्पा में प्राप्त पुरातत्त्व कालीन अवशेष तथा सम्राट अशोक के स्तम्भों व अन्य स्मारकों से भारतीय इतिहास में प्रथम बार भारतीय कला की विशेषता पर प्रकाश पड़ता है। दोनों ही कालों की कला बहुत ही उत्कृष्ट है। इतिहास लेखक मार्शल ने मोहेंजोदड़ो के ऊँचे ककुद वाले बैल तथा अन्य पशुओं की कलाकृतियों को देखकर कहा था कि इनकी कला को किसी भी तरह प्रारम्भिक नहीं कहा जा सकता। हड़प्पा की दो मूर्तियों को देखकर मार्शल महोदय को यह विश्वास ही नहीं हुआ था कि ये मूर्तियाँ प्रागैतिहासिक काल की हो सकती हैं। इन मूर्तियों की गढ़न इतनी अधिक सुन्दर है जैसी कि प्राचीन संसार में यूनानी युग से पहले कहीं देखने को नहीं मिलती। चौबीस शताब्दियों के अन्धकार के बाद हम फिर मौर्य काल में भारतीय कला अत्यन्त व्यापक और विकसित रूप में दिखाई देती है। अशोक स्तम्भ के शीर्ष पर बनी सिंह की आकृति उस समय की कला की दृष्टि से अनुपम है। मौर्यकाल में भारतीय मूर्ति व वास्तुकला के उदाहरण पर्याप्त परिमाण में दृष्टिगोचर होते हैं।

मौर्यकाल—अशोक के समय से भारतीय कलाओं का व्यवस्थित इतिहास मिलता है। अशोक ने बौद्धधर्म स्वीकार करने के बाद देश में कलाओं को प्रोत्साहन दिया। बौद्ध अनुश्रुति में कहा गया है कि अशोक

---

१ इस विवरण के तैयार करने में हमें अनेक लेखकों के लेखों से सहायता मिली है। हम उनके अनुगृहीत होते हैं।

न ८४ हजार स्तूप बनवाये थे। अशोककालीन स्मारकों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१ स्तूप २ स्तम्भ ३ गुफायें और ४ राजप्रासाद।

महात्मा बुद्ध के जीवन से पवित्र हुए स्थानों पर उनकी भस्म पर बड़े-बड़े स्तूपों का निर्माण किया गया था। उन्नत कटोरे के आकार के पत्थरों या ईंटों के ठोस गुम्बज से स्तूप बनाये जाते थे। वैदिक काल में "शव" को बिना जलाये गाड़ कर तूप बनाने की जो रीति चली आ रही थी वही परिष्कृत होकर स्तूप के रूप में प्रयुक्त होने लगा। पुराने स्तूपों में मौर्यकालीन स्तूपों में दो परिवर्तन आये एक तो उनके चारों ओर रेलों के निम्न बाड़ बनायी जाने लगी और बाद में अनेक मांगलिक छत्रों की स्थापना की जाने लगी। चारों ओर का घेरा प्रदक्षिणा के काम में आता था और घेरे में चारों दिशाओं में चार तोरण या द्वार बनाये जाते थे। अशोक द्वारा बनवाये हजारों स्तूपों में से अनेकों स्तूप अनेकों वर्षों तक बने रहे। नौ सौ वर्ष बाद चीनी यात्री युआन च्वांग ने भ्रमण भारत भ्रमण में अनेकों स्तूप देखे थे। इन स्तूपों में से इस समय तक अवशिष्ट स्तूपों में सर्वोत्तम सांची का स्तूप है। इसके तोरण तो शुंग काल के हैं परन्तु मूल स्तूप अशोककाल का ही है।

अशोककालीन वास्तुकला के सर्वोत्तम उदाहरण स्मारक-स्तम्भ हैं। अशोककालीन स्मारक स्तम्भों के इस समय १० उत्कृष्ट नमूने पाये जाते हैं। जिला भारतीय मुजफ्फरपुर चम्पारन के तीन गांवों बुद्ध की जन्मभूमि लुम्बिनी वन (वर्तमान रुम्मिनदेई) तथा सांची आदि स्थानों में ये स्मारक-स्तम्भ पाये जाते हैं। ये सब स्मारक-स्तम्भ चुनार के लाल पत्थर के बने हुए हैं। स्मारक-स्तम्भों के दो भाग हैं। एक शीर्ष स्तम्भ का भाग और दूसरा लाट या प्रधान दण्डाकार भाग। समूचा लाट एकाश्म या एक पत्थर की बनी हुई होती है। दोनों ही भागों पर ऐसा पालिश होता है जिस पर आंख नहीं टिकती। २२०० वर्षों से भी अधिक समय व्यतीत हो जाने पर इन स्तम्भों को देखकर यही मालूम

पड़ता है कि इन पर अभी पालिश की गई हो। दिल्ली वाले स्तम्भ पर इतनी बढ़िया पालिश है कि दर्शक उसे धातु का बना समझते रहे हैं। १७वीं शताब्दी में टॉम कोरियेट तथा १९वीं शताब्दी में पादरी हेबर ने दिल्ली स्थित अशोककालीन स्तम्भ को पीतल का गढ़ा हुआ समझा था। भारतीय पालिश को श्रोप कहा जाता था। यह भारतीय प्रस्तर कला की एसी विशेषता है जो कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। भारतीय पालिश की यह श्रोप प्रक्रिया अभी तक भी अज्ञात है। अशोक के पौत्र सम्प्रति के बाद से यह प्रणाली भारत में विलुप्त हो गई। इन स्मारक स्तूपों की लाट गोल और चढ़ाव उतार वाली होती है। ये लाटें कितनी विशाल हैं इसका अनुमान उनकी ऊँचाई तथा भार आदि से लगाया जाता है। लाटों की ऊँचाई तीस से चालीस फुट तक और भार ५० टन या १३५० मन के लगभग है। इन भारी तथा एक ही पत्थर से बने विशाल स्तूपों को किस प्रकार गढ़ा गया होगा उन्हें पत्थरों की खान से स्मारक-स्थानों तक ढोकर किस प्रकार ले जाया गया होगा यह आजकल के शिल्पियों के लिये भी एक समस्या है। ये विशालकाय स्मारक स्तूप अशोकयुगीन इंजीनियरों व शिल्पियों की उत्कृष्टता के प्रमाण हैं। इन लाटों पर शीर्ष रूप में शेर हाथी बैल या घोड़े की मूर्तियाँ बनी हैं। इन सभी शीर्षस्थ मूर्तियों की कला बहुत उत्कृष्ट है परन्तु सारनाथ का शीर्ष सर्वोत्तम समझा जाता है। कला के पारखियों ने सारनाथ के शीर्ष को भारत में अब तक खोजी गई इस तरह की वस्तुओं में सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है। यह स्मारक-स्तम्भ महात्मा बुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तन स्थान में खड़ा किया गया था। इसके शिरोभाग में चार सिंहों की मूर्तियाँ हैं और उनके नीचे चारों दिशाओं में चार पहिये धर्म चक्र-प्रवर्तन के सूचक हैं। सिंह पीठ-से-पीठ सटाये चारों दिशाओं की ओर दृढ़ता से बैठे हैं। उनकी आकृति भव्य दर्शनीय और गौरवपूर्ण है जिसमें कल्पना और वास्तविकता का सुन्दर सम्मिश्रण है। उनके गठीले अंग प्रत्यंग समविभक्त हैं और वे बड़ी सफाई से गढ़ गये

है। उनकी फहराती हुई लहरदार केसर का एक-एक बाल बड़ी सूक्ष्मता तथा चारुता से दिखाया गया है। इनमे इतनी नवीनता है कि यह आज के बन प्रतीत होते है। इन मूर्तियो की सभी कलाशास्त्रियो ने बड़ी सराहना की है। प्रसिद्ध इतिहास लेखक विन्सेन्ट स्मिथ की सम्मति है कि 'ससार के किसी भी देश की प्राचीन पशु-मूर्तियो म इस सुन्दर कृति से उत्कृष्ट या इसके टक्कर की चीज पाना असम्भव है। पुरातत्ववेत्ता सर जान मार्शल की सम्मति है कि शैली एव निर्माण-पद्धति की दृष्टि से ये भारत द्वारा प्रस्तुत सुन्दरतम मूर्तियाँ है। भारतीय गणतन्त्र ने स्वाधीनता प्राप्त करते ही इन्ही मूर्तियो को अपने राजचिह्न के रूप में स्वीकार किया।

अशोक तथा उसके पौत्र दशरथ ने कुछ भिक्षु निवास-गृह भी बन वाये थे। भिक्षुओ के ये निवास-गृह गुहा-गृहो के रूप म पाये जाते हैं। गया से १६ मील उत्तर म बराबर नामक स्थान म ऐसी गुहाये मिली हैं। बहुत ही कडे सेलिया नामक पाषाण से इन्हे कडे परिश्रम से काटकर तथा किसी प्रकार के वज्रलेप से इन्हे घुटाई कर काँच की भाँति चमकाया गया है। पुरानी घोष या पालिश की कला का यहाँ सर्वोत्तम रूप देखने को मिलता है।

पटना या प्राचीन पाटलिपुत्र म अशोक न बहुत से सुन्दर राजप्रासाद भी निर्माण करवाये थ। प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान ने इन महलो के निर्माणकौशल का गौरव गान करते हुए लिखा था— 'ये मनुष्यो के बनाये हुए नहीं हो सकते, इनकी रचना देवताओं ने की है। फाहियान द्वारा वर्णित सम्राट अशोक निर्मित राजप्रासाद सम्भवत काष्ठ के बने थ फलत खुदाई म उनके भग्नावशेषो के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला।

विकासकाल—मौर्य शासन क पतन स लेकर गुप्त शासन के अभ्युदय तक भारतीय कला के इतिहास के ५०० वर्षों का काल बहुत ही महत्व पूर्ण है। इस काल म मौर्यो भारहुत बुद्ध-गया गान्धार मथुरा, अमरावती तथा नागार्जुनीकोण्डा आदि स्थानों में विभिन्न प्रकार की कला

प्रणालियो का विकास हुआ है। उक्त स्थानो स पहली तीन शुग काल से सम्बन्धित हैं और शेष कुषाण सातवाहन काल से। इन दोनो समयों की कला-कृतियो म कुछ अन्तर दिखाई देता है। पूर्व काल की कला-कृतिया में बुद्ध की एक भी प्रतिमा या मूर्त्ति नही दिखाई देती। महात्मा बुद्ध को इस काल म चरण छत्र पादुका धर्मचक्र आसन कमल या स्वस्तिक के सकेतों से प्रकट किया गया जबकि बाद के समय म महात्मा बुद्ध की प्रतिमायें धडल्ले से बनने लगी। उक्त स्थानो से भारहुत साँची और बुद्ध गया की कलाकृतिया म कुछ मौलिक अन्तर है। इन तीन स्थानो की कलाकृतियाँ यद्यपि बौद्ध हैं परन्तु यहाँ की मूर्तियाँ धार्मिक न होकर यथार्थवादी प्राकृतिक एव ऐन्द्रियिक विषयो स सम्बन्धित है। ये कला कृतियाँ महात्मा बुद्ध के जीवन की झाँकियाँ नही हैं। प्रत्युत बौद्धधर्म की आवश्यकताओ के अनुसार प्रचलित लोक-कलाओ को प्रस्तुत किया गया है।

मध्य प्रदेश के नागोद स्थान पर भारहुत का विशाल स्तूप प्रतिष्ठित था। दुर्भाग्य से अब वह स्तूप नष्टप्राय है परन्तु इस स्तूप को घेरने वाली वेष्टनियां या बाड का कुछ भाग और इसका एक तोरण कलकत्ता के भारतीय सग्रहालय म सुरक्षित है। इन स्मारको से भारतीय कला कृतिया म एक नवीन परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। अशोक के समय की कला सीधी-सादी थी उसम पशु-मूर्तिया का ही अधिक चित्रित किया जाता था परन्तु उसके बाद की कला-कृतियो म महात्मा बुद्ध क जीवन से सम्बन्धित दृश्या का प्रस्तर शिलाओ म चित्रित किया जाने लगा। भारहुत की वेष्टनिया म ६ के लगभग महात्मा बुद्ध के चरित्र स सम्बन्धित घटनाओ के चित्र हैं और ४ के लगभग जातक कथायें चित्रित हैं और बहुत स दृश्या के नीच मूर्त्ति का विषय भी उल्लिखित है। महात्मा बुद्ध से सम्बन्धित घटनाओ म जेतवन का दान विशेष उल्लेखनीय है। भारहुत की कला-कृतिया म पशु-पक्षियो की नागराज आदि की मूर्तियाँ बडी ही सजीव रूप म चित्रित की गई हैं। इनम से केवल धार्मिक भक्तिपूर्ण कला-कृतियाँ

हा नहीं हैं परन्तु हास्य रस की भी बहुत सी कला-कृतियाँ हैं। जातक कथाओं के आधार पर निर्मित दृश्यों में बन्दरों की लीलाओं को चित्रित किया गया है। एक दृश्य में चित्रित है कि एक हाथी गाजे-बाजे के साथ बन्दरों के एक समूह द्वारा एक जलूस के रूप में ले जाया जा रहा है। एक दूसरे चित्र में एक बड़ा हाथी सडास को खींचकर एक मनुष्य के नन्हे से दाँत को निकालते हुए दिखाई देता है। यह दृश्य सहसा हँसी उत्पन्न कर देता है। हमारे धर्मग्रन्थों में दुःख और निराशावाद की जो झलक दिखाई देती है वह भारहुत आदि के चित्रों में नहीं है। उन चित्रों से तत्कालीन भारत के आमोदपूर्ण लोकजीवन की सच्ची झाँकी ही दिखाई देती है। यह सम्भव है कि कला की दृष्टि से भारहुत की मूर्तियाँ सम्पूर्ण न हों उनके आकार तथा आसनों में भी दोष हो सकता है। उनकी आकृतियाँ भी चपटी हैं परन्तु इन सबके बावजूद ये तत्कालीन धार्मिक विश्वास पहनावे आदि पर अच्छी रोशनी डालती हैं।

बुद्ध गया के प्रसिद्ध मन्दिर के चारों ओर भी पत्थर की वेष्टनियाँ या बाड़ है। इस पाषाणनिर्मित बाड़ में कमल तथा प्राणियों की जो आकृतियाँ बनाई गई हैं वे भारहुत की अपेक्षा अधिक सुन्दर हैं, इससे स्पष्ट है कि इस समय तक कला पर्याप्त विकसित हो चुकी थी।

साँची में बुद्ध गया की अपेक्षा भी अधिक विकसित शिल्प-कला दिखाई देती है। साँची में तीन बड़े स्तूप हैं समय की लम्बी अवधि व्यतीत हो जाने पर भी भाग्य से अच्छी हालत में है। बीच में ५४ फुट ऊँचा अर्ध गोलाकार गुम्बद है इसके चारों ओर पत्थर की दीवार है परिक्रमा के लिये मार्ग है स्तूप के पूर्व पश्चिम उत्तर व दक्षिण चारों दिशाओं में चार द्वार या तोरण हैं। प्रत्येक दरवाजा चौदह फुट ऊँचे दो वर्गाकार स्तम्भों से बना हुआ है। अशोक के समय निर्मित इस प्रधान स्तूप के चारों ओर की पत्थर की दीवार तो सादी है किन्तु इसके चारों तोरण भारहुत की भाँति बुद्ध की जीवन घटनाओं तथा जातक कथाओं की दृश्यावलियों से चित्रित हैं। तोरणों पर तीन-तीन कमानीदार बड़

प्रणालियों का विकास हुआ है। उक्त स्थानों से पहली तीन शुंग काल से सम्बन्धित है और शेष कुशान सालवाहन काल से। इन दोनों समयों की कला-कृतियों में कुछ अन्तर दिखाई देता है। पूर्व काल की कला-कृतियों में बुद्ध की एक भी प्रतिमा या मूर्ति नहीं दिखाई देती। महात्मा बुद्ध को इस काल में चरण छत्र पादुका धर्मचक्र आसन कमल या स्वस्तिक के संकेतों से प्रकट किया गया जबकि बाद के समय में महात्मा बुद्ध की प्रतिमायें पहल्ले से बनने लगी। उक्त स्थानों से भारहुत सांची और बुद्ध गया की कलाकृतियों में कुछ मौलिक अन्तर है। इन तीन स्थानों की कलाकृतियाँ यद्यपि बौद्ध हैं परन्तु यहाँ की मूर्तियाँ धार्मिक न होकर यथार्थवादी प्राकृतिक एवं एन्द्रियिक विषयों से सम्बन्धित है। ये कला कृतियाँ महात्मा बुद्ध के जीवन की झाँकियाँ नहीं हैं। प्रत्युत बौद्धधर्म की आवश्यकताओं के अनुसार प्रचलित लोक-कलाओं को प्रस्तुत किया गया है।

मध्य प्रदेश के नागोद स्थान पर भारहुत का विशाल स्तूप प्रतिष्ठित था। दुर्भाग्य से अब वह स्तूप नष्टप्राय है परन्तु इस स्तूप को घेरने वाली वेष्टनियां या बाढ़ का कुछ भाग और इसका एक तोरण कलकत्ते के भारतीय संग्रहालय में सुरक्षित है। इन स्मारकों से भारतीय कला कृतियों में एक नवीन परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। अशोक के समय की कला सीधी-सादी थी उसमें पशु मूर्तियों को ही अधिक चित्रित किया जाता था परन्तु उसके बाद की कला-कृतियों में महात्मा बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित दृश्यों को प्रस्तर शिलाओं में चित्रित किया जाने लगा। भारहुत की वेष्टनियों में ६ के लगभग महात्मा बुद्ध के चरित्र से सम्बन्धित घटनाओं के चित्र हैं और ४ के लगभग जातक कथायें चित्रित हैं और बहुत से दृश्यों के नीचे मूर्ति का विषय भी उल्लिखित है। महात्मा बुद्ध से सम्बन्धित घटनाओं में जेतवन का दान विशेष उल्लेखनीय है। भारहुत की कला-कृतियों में पशु-पक्षियों की नागराज आदि की मूर्तियाँ बड़ी ही सजीव रूप में चित्रित की गई हैं। इनमें से केवल धार्मिक भक्तिपूर्ण कला कृतियाँ

हा नहीं है परन्तु हास्य रस की भी बहुत सा कला-कृतियाँ हैं। जातक कथाओं के आधार पर निर्मित दृश्यों में बन्दरो की लीलाओं को चित्रित किया गया है। एक दृश्य म चित्रित है कि एक हाथी गाज-बाज के साथ बन्दरा के एक समूह द्वारा एक जलूस के रूप म ले जाया जा रहा है एक दूसर चित्र म एक बडा हाथी सडासे को खींचकर एक मनुष्य के नन्हे स दाँत का निकालत हुए दिखाई देता है यह दृश्य सहसा हसी उत्पन्न कर देता है। हमारे धर्मग्रन्थों में दुःख और निराशावाद का जो झलक दिखाई देता है वह भारहुत आदि के चित्रों में नहीं है उन चित्रो से तत्कालीन भारत के आमोदपूर्ण लोकजीवन की सच्ची झाँकी ही दिखाई देती है। यह सम्भव है कि कला की दृष्टि स भारहुत की मूर्तियाँ सम्पूर्ण न हो उनके आकार तथा आसनो में भी दोष हो सकता है, उनकी आकृतियाँ भी चपटी हैं परन्तु इन सबके बावजूद ये तत्कालीन धार्मिक विश्वास पहनावे आदि पर अच्छी रोशनी डालती हैं।

बुद्ध गया के प्रसिद्ध मंदिर के चारो ओर भी पत्थर की वेष्टनियाँ या बाड है। इस पाषाणनिर्मित बाड में कमल तथा प्राणियो की जो आकृतियाँ बनाई गई हैं वे भारहुत की अपेक्षा अधिक सुन्दर हैं इसस स्पष्ट है कि इस समय तक कला पर्याप्त विकसित हो चुकी थी।

साँची में बुद्ध गया की अपेक्षा भी अधिक विकसित शिल्पकला दिखलाई देती है। साँची में तीन बडे स्तूप हैं समय की लम्बी अवधि व्यतीत हो जाने पर भी भाग्य स अच्छी हालत में है। बीच में ५४ फुट ऊँचा अर्ध गोलाकार गुम्बद है इसके चारो ओर पत्थर की दीवार है परिक्रमा के लिये मार्ग है स्तूप के पूर्व पश्चिम उत्तर व दक्षिण चारो दिशाओं में चार द्वार या तोरण हैं। प्रत्येक दरवाजा चौदह फुट ऊँचे दो चकोर स्तम्भों स बना हुआ है। अशोक के समय निर्मित इस प्रधान स्तूप के चारों ओर की पत्थर की दीवार तो सादी है किन्तु इसके चारो तोरण भारहुत की भाँति बुद्ध की जीवन घटनाओं तथा जातक कथाओं की दृश्यावलियों से चित्रित हैं। तोरणो पर तीन-तीन कमानीदार बड

रियाँ हैं इन पर सिंह हाथी धर्मचक्र यक्ष तथा त्रिरत्न के चित्र अंकित हैं। ऊँट हरिण बैल मोर हाथी आदि पशुओं के जोड़ों के मुँह विपरीत दिशाओं व बड़ी कारीगरी और सफाई से बने हुए हैं। इन चित्रों को देखने पर प्रतीत होता है कि यह सारा पशु जगत् महात्मा बुद्ध की पूजा व अभ्यर्थना के लिए एकत्र हो गया है। खम्भे के निचले भाग में द्वार रक्षक यक्ष खड़े हैं, खम्भों के अन्दर पाषाण बर्बरियों की शिलाओं का भार सँभालने के लिये अन्दर की ओर चौमुख हाथी तथा बौन तथा बाहर की ओर वनवासिनी यक्षिणियाँ या वक्षिकायें निर्मित हैं। इनकी भावभंगी बड़ी सुन्दर है। यद्यपि साँची की मूर्तियों और चित्रित विषयों में भारहुत की कला-कृतियों से समानता है परन्तु साँची के शिल्पी भारहुत के कला-सौष्ठव में अधिक निष्णात दिखाई पड़ते हैं। मानवाकृतियों की गढ़ाई अधिक भावनाओं को अभिव्यक्त करती है जटिल कथाओं तथा गूढ़ भावों को इन कलाकारों ने अधिक अच्छे ढंग से चित्रित किया है। भारहुत के समान साँची के स्तूप भी उस समय के लोक-जीवन तथा संस्कृति के चित्र मालूम पड़ते हैं।

मथुरा नगरी प्राचीन काल से भारत का एक बड़ा सांस्कृतिक व राजनीतिक केन्द्र रही है। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में यह नगरी कुषाणों की राजधानी थी। यहाँ कला का एक महान् केन्द्र था। शुंग काल में इस नगरी में भारहुत की लोक-कला तथा साँची की परिष्कृत कलाओं का साथ-साथ विकास हो रहा था। कुषाण काल में ये दोनों कलायें मिल गईं। पुरानी कला-कृतियों का चपटा करने की जो प्रवृत्ति थी इस समय उसका अन्त हो गया परन्तु भारहुत के भाव तथा अलंकरण बने रहे। इस काल की बहुत अधिक मूर्तियाँ मथुरा से प्राप्त हुई हैं। अधिकांश मूर्तियाँ सफेद चित्तीदार रवादार पाषाण की बनी हुई हैं। मथुरा शैली की मूर्तियों के विकास की भी दो स्थितियाँ हैं। प्रारम्भिक काल में बनी मूर्तियाँ भारहुत के समान अपरिष्कृत हैं किन्तु बाद के काल की बनी मूर्तियाँ बहुत अच्छी गढ़ी हुई हैं। इन मूर्तियों में नवीनता बुद्ध की मूर्ति

ग है। महात्मा बुद्ध ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध उपदेश दिया था। बहुत वर्षों तक महात्मा बुद्ध की कोई मूर्ति नहीं बनी परन्तु भक्तगण महात्मा बुद्ध की मूर्ति के लिए लालायित रहे। मथुरा के शिल्पियों ने महात्मा बुद्ध की मूर्ति बनाकर जनता की इस माँग को पूरा किया। बुद्ध की मूर्ति के निर्माण के बाद भारतीय शिल्पी कई शताब्दियों तक अपने आध्यात्मिक विचारों को बुद्ध मूर्तियों द्वारा ही प्रकट करते रहे।

गान्धार शैली की मूर्तियाँ—मथुरा में जिस समय महात्मा बुद्ध की मूर्तियाँ बनने लगी थीं लगभग उसी समय उत्तर-पश्चिमी भारत में कुषाण राजाओं की प्रेरणा से महात्मा बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण हुआ। ये मूर्तियाँ काले स्लेट के पत्थर की या चूने-मसाले की बनी हुई हैं। अफगानिस्तान, तक्षशिला और उत्तर-पश्चिमी सीमान्त से महात्मा बुद्ध की हजारों मूर्तियाँ मिल चुकी हैं। गान्धार प्रदेश में विशिष्ट शैली से बनी होने के कारण इन मूर्तियों को गान्धार शैली का कहा जाता है। इन मूर्तियों का आकार प्रकार यूनानी कला से सम्बन्धित मालूम होने से इस शैली को हिन्द-यूनानी शैली भी कहा जाता है। गान्धार शैली के मौलिक तत्त्व भारतीय आध्यात्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति पर आश्रित हैं परन्तु इन्हीं के साथ इसमें यूनानी कला की वास्तविकता को भी संयुक्त करने का प्रयत्न किया गया। गान्धार शैली की मूर्तियों में मानव-शरीर के वास्तव-वादी दृष्टिकोण को अंकित किया गया है। इनमें अंग प्रत्यंग तथा मांस पेशियों को बड़ी बारीकी तथा पूर्णता से चित्रित किया जाता है। इन मूर्तियों पर एसे वस्त्र दिखलाये जाते हैं जो महीन तथा पारदर्शक होते हैं। गान्धार शैली की मूर्तियों में यूनानी कला कृतियों की भौतिक विशेषताओं के साथ भारतीय आध्यात्मिक अभिव्यंजना को भी प्रकट करने का प्रयत्न किया गया है। गान्धार कलाकार ने भारतीय हृदय के साथ यूनानी बाह्य स्वरूप को चित्रित करने का प्रयत्न किया था। गान्धार शैली की मूर्तियों में भौतिक सौन्दर्य व अंग-सौष्ठव पर बल दिया जाता है तो मथुरा शैली की मूर्तियों में शारीरिक रचना की अपेक्षा मुख-मण्डल की कान्ति

का अधिक आकर्षक बनाया जाता है।

अमरावती शैली की मूर्तियाँ—दक्षिणी भारत में कृष्णानदी के निम्न भाग में जिला गुण्टूर में अमरावती जगय्यापेठ तथा नागार्जुनी कोण्डा में भारतीय कला की एक नयी शैली का सूत्रपात हुआ। अमरावती में सारा गुम्बद चारों ओर की वेष्टनी या बाड़ संगमरमर के पत्थरों तथा भारहुत की चारों ओर की दीवार में समान ही बुद्ध मूर्तियां आदि से चित्रित है। यहाँ बुद्ध को प्रतीकों तथा मूर्तियों दोनों ही प्रकारों से चित्रित किया गया है। यहाँ की कला भारहुत साँची तथा मथुरा गान्धार शैलियों के सक्रान्तिकाल की उपज समझी जा सकती है। गम्भीर उदासीन वैराग्य भाव से परिपूर्ण छः छः फुट ऊँची बुद्ध मूर्तियाँ यहाँ मिली हैं। यहाँ बड़े कठिन आसनों में सुन्दर पतली व प्रसन्न आकृतियों की मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं वनस्पतियों पुष्पों तथा कमलों आदि का अनुकरण देखते ही बनता है। सम्पूर्ण कला भक्ति भाव की परिचायिका है। महात्मा बुद्धदेव के चरण-चिह्नों के समक्ष नत उपासिकाओं का दृश्य बहुत ही मनोहारी है। इन मूर्तियों में हास्य रस भी दिखाई देता है। अखण्ड संगमरमर का श्वेत स्तूप बहुत अधिक भव्य दिखाई देता होगा परन्तु दुर्भाग्य से चूना बनाने के लिये १०० वर्ष पूर्व इसका बड़ा भाग जला कर राख कर दिया गया। गुण्टूर जिले के नागार्जुनी कोण्डा नामक स्थान पर भी एक स्तूप मिला है। यहाँ अमरावती जैसा ऊँचा शिल्प तो नहीं है परन्तु यहाँ युद्ध [illegible] का सुन्दर दृश्य चित्रित है।

विक्रम की इन पाँच शताब्दियों में वास्तुकला के उदाहरणस्वरूप पहाड़ों की चट्टानों से काटे हुए गुहागृह हैं। यद्यपि इन गुहा निवासों का प्रारम्भ अशोक के समय में हो चुका था परन्तु इस काल में इन्हें स्तम्भ पंक्तियों व मूर्तियों से सजाया जाने लगा था। इन गुहाओं के दो भेद थे—एक चैत्य दूसरे विहार। चैत्य उपासना मन्दिर थे तो विहार भिक्षुओं के आवासगृह। चैत्यों में बड़ा हाल होता था और विहारों में केन्द्रीय हाल के चारों ओर कोठरियाँ होती थी। महाराष्ट्र में नासिक तथा काल

कन्हेरी भाजा आदि स्थानों में चत्य गुहायें मिली हैं। उड़ीसा में इन गुफाओं को गुम्फा कहा गया है और ये सब जन मन्दिर हैं।

गुप्तकाल—गुप्त काल म भारतीय कला का सर्वाधिक विकास हुआ। भारतीय शिल्पियों न इस काल म जिस भी वस्तु या विषय को लिया उसी में प्राणों का सचार कर दिया। इस काल के कलाकारों ने उच्चतम भावों की अभिव्यक्ति के लिए कला को अपना आधार बनाया। आध्यात्मिकता गाम्भीर्य रमणीयता लालित्य माधुर्य ओज व सजीवता की दृष्टि म गुप्तकाल की कला-कृतियाँ अनुपम हैं। इस काल में बौद्ध तथा पौराणिक देवताओं की सुन्दर मूर्तियाँ बनीं। सारनाथ और मथुरा से बुद्ध की तथा भौसा जिले के देवगढ मन्दिर से शिव व विष्णु की इसी काल की सुन्दर मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं।

गुप्त काल म चित्रकला के भी बहुत ही अच्छ माध्यम तयार हुए। अजन्ता के चित्रों से स्पष्ट होता है कि गुप्त युग के कलाकारों ने मानव जीवन क सभी क्षेत्रों को सफलतापूर्वक चित्रित किया था। यहाँ भारतीय कला का श्रेष्ठ रूप दिखलाई देता है। अजन्ता के चित्रों म सब तरह के मानवीय भाव समाधिमग्न बुद्ध से लेकर प्रणय क्रीडा व शृगार के भी सब मानव-व्यापारों का चित्रण किया गया है। अजन्ता म अलकरणात्मक व्यक्ति चित्र तथा घटना सम्बन्धी तीन प्रकार के चित्र मिले हैं। सजावट के लिए अजन्ता म झालर, बन्दनवार पत्रावलि पुष्पों पक्षों व पशुओं की आकृतियाँ बनायी गई हैं। खाली स्थान भरने के लिए अप्सराओं गन्धर्वों व गणों की मूर्तियाँ बनायी गई हैं। व्यक्ति-चित्रों में पद्मपाणि अवलोकितेश्वर एशिया महाद्वीप की श्रेष्ठतम कलाकृति समझी जाती है। घटनाओं को चित्रित करने वाली जातक कथाओं म सुस्पष्ट भावों की अभिव्यक्ति है। बुद्ध न गृहत्याग कामदेव-विजय राहुल को भिक्षा रूप में यशोधरा द्वारा देने आदि की घटनायें कलाकारों ने बड़ी ही सूक्ष्मता से चित्रित की हैं। ग्वालियर जिले के बाघ गुहा, कोटा जिले के सित्तनवासल तथा लका के सिगिरिया स्थान में भी अजन्ता जैसे चित्र मिले हैं। गुप्त

काल की मिट्टी की बनी मूर्तियाँ भी बड़ी अच्छी था इनका सुन्दर उदाहरण पामती मस्तक नामक कृति है।

इस काल की वास्तुकला चित्र व मूर्तिकला के समान उन्नत न थी।

मध्यवर्ती काल में—मध्यवर्ती काल म वास्तुकला की विशेष उन्नति हुई। स्वदेश व विदेशों म भारतीय मूर्ति व स्थापत्य-कला का बहुत विकास हुआ। इस काल म गुप्त युग का ओज व नवीनता तो न थी परन्तु इस म लालित्य विशेष था। इस काल के भी दो भाग है। एक पूर्व मध्यकाल और दूसरा उत्तर मध्यकाल। पूर्व मध्यकाल म कला काफी उन्नत रही परन्तु दूसरे काल म अलंकरणों पर जोर दिया जाने लगा। इस काल म सौन्दर्य के स्थान पर चमत्कार को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया जाने लगा। तान्त्रिक के असर से कुछ स्थानों पर अश्लील मूर्तियाँ भी बनने लगी।

वास्तुकला की दृष्टि से इस काल म मन्दिरों के दो बड़े भेद है। एक उत्तर भारतीय और दूसरा द्रविड़। उत्तर भारत की शैली के मन्दिरों म छत आमले की आकार की कलश व ध्वजदण्ड से शोभित होती है तो दक्षिण के मन्दिरों के गर्भगृह का ऊपरी भाग कई मंजिलों म पिरामिड के समान उठता जाता है। इस काल के श्रेष्ठ मन्दिर लिंगराज भुवनेश्वर (उड़ीसा) तथा मध्य प्रदेश के खजुराहो स्थान म हैं। द्रविड़ शैली के मन्दिरों म मामल्लपुरम् काञ्जीवरम इलौरा तंजोर श्रवणबेलगोला व श्रीरंगम के मन्दिर प्रसिद्ध हैं। पूर्व मध्यकाल के तीन प्रधान मूर्तिकेन्द्र हैं—१ मामल्लपुर २ एलिफण्टा और ३ एल्लोरा।

पल्लव राजा महेन्द्र वर्मा तथा उसके पुत्र ने दक्षिण म काञ्ची के सामने समुद्र-तट पर एक-एक चट्टान कटवाकर 'रथ' नामक विशाल मन्दिर बनवाये थे। सात रथों का एक समूह सात पगोडो के नाम से विश्वभर म प्रसिद्ध है। इन मन्दिरों के नाम धर्मराज भीम आदि पाण्डवों के नामों पर रखे गये हैं। मौर्य युग म यदि उत्तर भारत की मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण दीखते हैं तो दक्षिणी भारत की मूर्तिकला

के श्रेष्ठ उदाहरण इस काल में मिलते हैं। कई स्थानों में उत्कीर्ण वाले पल्लव शैली के मन्दिरों को जावा कम्बोडिया अनाम आदि देशों में भी बाद में बनाया गया। मामल्लपुर की मूर्तियां में महिषासुर से युद्ध करती हुई दुर्गा तथा ८८ फुट लम्बी ४३ फुट चौड़ी विशाल खड़ी चट्टान पर बना तपस्या में लीन भगीरथ की मूर्तियाँ विशेष प्रभावोत्पादक हैं।

बम्बई से ६ मील दूर धारापुरी टापू में दो बड़े पर्वतों को काटकर एलिफेन्टा में मन्दिर व मूर्तियाँ बनायी गई हैं। यहाँ की मूर्तियों में महेश्वर का प्रकाण्ड त्रिमूर्ति शिव-ताण्डव शिव-पार्वती विवाह कला के बड़े अच्छे नमूने हैं।

इसी प्रकार आन्ध्र राज्य में औरंगाबाद से १६ मील दूर एक पूरी की पूरी पहाड़ी को काटकर मन्दिरों में बदल दिया गया है। इस एल्लोरा स्थान में २१ हिन्दू जैन तथा बौद्ध मन्दिर हैं। इनमें कैलाश मन्दिर अत्यन्त विशाल है। यह ११६ फुट ऊँचा १४२ फुट लम्बा तथा ६२ फुट चौड़ा दरवाजों झरोखों सीढ़ियों तथा सुन्दर स्तम्भों से युक्त एक ही विशाल पाषाण को काटकर बनाया गया है। इसमें कहीं जोड़ चूना मसाला या कील-कांटा भी नहीं लगाया गया है। एलोरा की कला-कृतियाँ व मन्दिर मानव के आरज परिश्रम व कला के श्रेष्ठ नमूने हैं। इस मन्दिर में बयालीस पौराणिक दृश्य भी चित्रित किये गये हैं।

आठवीं शताब्दी में ही जावा में बोरोबुदुर का सप्तमंजिला भव्य मन्दिर बनाया गया था। इसकी दीवारों में जातक व बुद्ध चरित के दृश्य अंकित किये गये हैं।

उत्तर मध्ययुग में वास्तु के पाँच मुख्य केन्द्र थे—१ खजुराहो २ राजपूताना ३ उड़ीसा ४ चोल राज्य और ५ होयसल राज्य।

खजुराहो का प्रसिद्ध मन्दिर समूह चन्देल राजाओं ने बनवाया था। यहाँ ११६ फुट ऊँचा ऊँची कुर्सीवाला कन्दरीयनाथ महादेव का मन्दिर दर्शनीय है। इसके प्रदक्षिणा-पथ के स्तम्भ भी कलापूर्ण हैं।

राजपूताना में आबू पर्वत पर देलवाड़ा के दो जैन मन्दिर संगमरमर

की श्रष्ठ कृतियाँ है। इनमें ऊपर से नीचे तक संगमरमर लगा है विलक्षण जालियो पुतलियो बेल-बूटा व नक्काशियो को देखकर दर्शक मन्त्र-मुग्ध हो जाता है। उन मन्दिरो का सौन्दय कला-पारखी आगरे के ताजमहल से कम नहीं आंकते

भारतीय गुफा मण्डपो की समृद्ध परम्परा के कुछ अवशेष राजस्थान म भी मिले हैं। झालावाड के निकट एक विशाल चत्यालय मिला है। राजस्थान मे कई जन व बौद्ध मूर्तियाँ भी खुदाई म मिली हैं। राजस्थान से प्राप्त इन सभी मूर्तियों की मुख मुद्रा व भाव गाम्भीर्य विशेष आकषक है।

जसलमेर नगर म अवस्थित मन्दिरों की मूर्तियाँ कला के उत्कृष्टतम नमूने हैं। राजस्थान के मूर्तिकारो न देवी देवता या नर-नारी की आकृतियों का अकन करते हुए प्रतिमा के मुख पर जिस सौम्यता मन्द स्मिति चिन्तन तथा मनन की गहराई को चित्रित किया है वह दर्शनीय है।

पुरी का जगन्नाथ मन्दिर कोणार्क का सूय मन्दिर भुवनेश्वर का मन्दिर भी इसी युग म बने। कोणार्क का सूय मन्दिर अपनी विशालता तथा अलकरण बहुलता से दशनीय बन गया है।

दक्षिण भारत म पल्लवों के अनन्तर चोलों ने द्रविड़ शली को विक सित कर परिपूर्ण किया। तजोर म १६० फुट ऊँचा १४ मंजिला महान शैव मन्दिर है। इस काल म मन्दिर बहुत बड़े-बड़ बनाये गये। उन्ह विविध कलाकृतियों से अलकृत किया गया। फग्सन नामक पुरातत्ववेत्ता लिखता है कि चोल कलाकार अपनी वास्तु का प्रारम्भ दानवों की सी विशाल कल्पना से करते थे और उसकी पूर्ति जौहरियों की भाँति करते थे। चोल कला की बडी देन मन्दिरों के विशाल प्रवेश-द्वारों के रूप म गोपुरम का निर्माण है। मदुरा श्रीरंगम् व रामेश्वरम् आदि के मन्दिरों म इन गोपुरों के साथ स्तम्भ पंक्ति वाले विशाल मण्डप भी बने।

मसूर में होयसल राजाओं ने भी एक नई प्रकार की वास्तुकला को

विकसित किया। *श्रमणबेलगोला में अत्यन्त काले पत्थर से ५६ फीट बनी* गोमत की एक ही खण्ड में बनी प्रतिमा कला का सुन्दर उदाहरण है। होयशेल राजाओं की वास्तुकला का सर्वोत्तम उदाहरण हालेबिद या दोर समुद्र का होयशलेश्वर का विख्यात मन्दिर है। इस मन्दिर के विषय में इतिहास लेखक स्मिथ ने लिखा था यह देवालय धैयशील मानव-जाति के श्रम का अत्यन्त आश्चर्यजनक नमूना है। इसकी सुन्दर कारीगरी को देखते-देखते आँखें तृप्त नहीं होती। मकडानाल्ड की सम्मति है कि सम्पूर्ण संसार में सम्भवतः ऐसा कोई दूसरा मन्दिर न होगा जिसके बाहरी भाग में इस प्रकार की खुदाई का कार्य किया गया हो।

इस काल में विदेशों में भी बड़े भव्य हिन्दू मन्दिरों का निर्माण हुआ। कम्बोडिया में अंकोरवत के भव्य मन्दिर का निर्माण कराया। कम्बोडिया में बने मन्दिरों में गैलरियों की स्थापना कर पुराणों के दृश्य चित्रित किये गये। नौवीं शताब्दी में जावा में ब्रह्मा विष्णु महेश के सुन्दर मन्दिर बनाये गये वहाँ राम-कृष्ण की लीलायें भी चित्रित की गई।

मध्यकाल में मूर्तिकला का स्तर निम्न हो गया। इनमें धार्मिक प्रभाव प्रबल हो गया परन्तु सौन्दर्य बुद्धि गौण हो गई। मूर्तिशिल्प में नवीनता तथा मौलिकता का अभाव हो गया। इस काल में चित्रकला का भी विकास हुआ। अजन्ता जैसे भित्ति चित्रों के स्थान पर इस काल में लघु चित्रों का निर्माण हुआ। बंगाल में दो शैलियाँ चलीं। पाल शैली तथा अपभ्रंश शैली। पहली शैली का विषय बौद्ध है और इसकी विशेषता वक्र रेखायें व सरल रचना है। अपभ्रंश शैली का विषय *प्रारम्भ में जैन ग्रन्थ थे परन्तु बाद में गीत-गोविन्द भागवत व बाल* गोपाल स्तुति में लौकिक प्रेम का चित्रण होने लगा। गुजरात में इस शैली का अधिक प्रचार था।

राजस्थानी चित्रकला का प्रारम्भ गुजराती अपभ्रंश शैली से हुआ था। इसमें राधा या कृष्ण नर-नारी के शाश्वत प्रेम का अनन्त रूपों में

चित्रण है। कृष्णलीला शृंगार नायिका भेद महाभारत हम्मीर हठ नल-दमयन्ती आदि के दृश्य इस शैली के चित्रकार अंकित करते रहे। रागमाला में विभिन्न रागों को चित्रित किया गया था।

मुगल काल—मुगलों को इमारत बनाने का बड़ा शौक था। उनके बनवाये हुए महलों किलों मसजिदों मकबरों तथा अन्य इमारतों से उनकी असाधारण प्रतिभा तथा सुरुचि का पता लगता है। मुगलों के आगमन से पहले हिन्दुस्तान में गृह निर्माण कला की अनेक शैलियाँ प्रचलित थी। तुगलक सुलतानों की सुदृढ इमारतों और बंगाल जौनपुर बीजापुर और गोलकुण्डा आदि प्रान्तों की इमारतों की शैलियों में बहुत कम सादृश्य है। गुजरात की कला इन सबसे निराली है। यहाँ की इमारतों की अत्यधिक सजावट हिन्दू और जैन कलाओं का स्पष्ट प्रभाव प्रगट करती है।

मुगल वास्तुकला में हिन्दू और मुसलमानी कलाओं का सम्मिश्रण है। मुगलों के पूर्वजों ने वास्तुकला सम्बन्धी आदर्श फारस से लिये थे परन्तु भारत में उनके वंशजों ने भारतीय आदर्शों को ग्रहण कर लिया। इसलिये इस नवीन कला को भारत फारसी कला कहना अधिक उपयुक्त होगा। इसमें भारत और ईरान की कला का हेल-मेल है। हिन्दू कला के पतले स्तम्भ आदि सजावट के तत्वों का मेहराब खिड़की के पर्दे गुम्बज आदि मुसलमानी कला के तत्वों के साथ सम्मिश्रण करने से इस नवीन कला का आविर्भाव हुआ था। फारसी कला की खास चीजें जिनमें मुगलों को बड़ा प्रेम था रंगीन खपरैल चित्रकारी, सादगी और नक्शा की सुन्दरता बाग तथा संगमरमर का प्रयोग आदि थे। मुगलों ने अपनी इमारतों में इन चीजों का भी समावेश किया था।

बाबर ने हम्माम तहखाने तथा बावलियों के बनवाने के लिये विदेशी कारीगरों को बुलाया था। सूर सुलतानों की बनवाई हुई दो इमारतें सहसराम का शेरशाह का मकबरा तथा दिल्ली का पुराना किला—रंगीन टाइल सतह की सजावट तथा गुम्बजों के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध

हैं। अकबर न देशी सामग्री तथा कारीगरा का सहायता स अपनी इमारतों म सौन्य तथा सुरुचि ने विशेषी आन्नों का अच्छा समावेश किया। उसन अपन भवनों म लाल पत्थर का प्रयोग कराया। लाल पत्थर पर खुदाई का काम करने म बड़ी कठिनाई हानी है। फिर भी उन कारीगरा न आश्चर्यजनक कौशल दिखाया। अकबर के समय की पहली इमारत हुमायूँ का मकबरा है। उसम सगमरमर का प्रयोग पहले पहल किया गया है। और उसम ईरानी कला का प्रभाव भी अधिक दिखाई देता है। उसके शासन-काल की अन्य प्रसिद्ध इमारतें हैं—बुलन्द दरवाजा शेख सलीम चिश्ती का मकबरा जामा मसजिद दीवान खास पंचमहल और मरियम उज-जमानी का महल (जो फतहपुर सीकरी म मौजूद है)। इसके अलावा आगरा (१५६४ ई०) और इलाहाबाद (१५७ ८३ ई०) के किले भी उसी के बनवाये हुए हैं। उसने अपने लिये (सन् १५६ ई०) आगरे म सिकन्दरा नामक स्थान पर भव्य मकबरे का निमाण कराया था जिसे उसकी मृत्यु के बाद जहाँगीर ने पूरा करवाया। वह हिन्दू और मुसलमान दोना से काम लेता था। आगरा और सीकरी की इमारतों म राजपूताना की हिन्दू कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। खिड़कियाँ चपटी छतें तथा मिहराबों के स्थान म खड़े दरवाजे—यह सब हिन्दू कला के प्रधान तत्त्व उसकी इमारतों म पाये जाते हैं।

नूरजहाँ और जहाँगीर दोनों सौन्दर्योपासक थे। परन्तु उन्होंने कोई बड़ी इमारतें नहीं बनवाई। जहाँगीर के समय की सबसे प्रसिद्ध इमारत केवल इतमादुद्दौला का मकबरा है जो सन् १६२८ म तैयार हुआ था। यह सफेद संगमरमर का बना हुआ है और इसम ही पहली बार पच्चीकारी का काम हुआ है। शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने से मुगल-वास्तुकला का स्वर्ण-काल आरम्भ हुआ। वह बड़ा शानदार बादशाह था और उसे इमारत बनाने का शौक था। परन्तु उसकी इमारतों म हिन्दू कला का प्रभाव बहुत कम है। उसके भवनों की शान-शौकत उनका अनुपम सौन्दर्य और बनावट तथा पत्थरों द्वारा भावों की सुन्दर अभिव्यंजना एवं प्रभावो

स्पादन क लिय रग के प्रयोग पर भवलम्बित है। उसकी सबसे प्रसिद्ध इमारतो में भागर क किले की माती मसजिद भौर उसके बसाये हुए नगर शाहजहाँनाबाद (दिल्ली) की जामा मसजिद किला तथा दीवान खास भौर दीवान भाम हैं। दीवान खास की भव्यता तथा सौन्दर्य निस्सन्देह उसकी दीवार पर अकित निम्नलिखित शब्दों की सत्यता को प्रमाणित करते हैं—

अगर फिरदौस बर रुए जमीं अस्त।
हमीं अस्तो हमीं अस्तो हमीं अस्त॥

अर्थात् यदि भूमि पर कही आनन्द का स्वग है तो वह यही है यही है यही है। ताज शाहजहाँ की प्यारी बेगम मुमताजमहल का स्मारक है। वह ससार की सर्वोत्कृष्ट इमारत है। साधारण दर्शक भी उसके सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो जाता है। उसके गुम्बज बहुत बढ़िया हैं। उसकी सजावट अनुपम है। उसके बाग मसजिद फाटक सभी उसके सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। पच्चीकारी का काम भी उसमें उच्च कोटि का है। यह जगत्प्रसिद्ध मकबरा मुमताजमहल की मृत्यु के बाद सन १६३१ ई में बनना भारम्भ हुआ था भौर १६५३ ई० में समाप्त हुआ।

कहते हैं २० ००० आदमी इसके बनाने में काम करते थे भौर इसमें लगभग साढ़े चार करोड़ रुपया खर्च हुआ था। बादशाह की इच्छा थी कि ऐसा ही मकबरा अपने लिये जमुना के दूसरी पार बनवाये भौर दोनों के बीच में एक पुल हो परन्तु यह अभिलाषा पूरी न हुई। पादरी मनरीक का यह कथन कि ताज का निर्माता एक इटली निवासी था अप्रमाणित है। उसका नक्शा बिलकुल एशियाई ढंग का है भौर मुगल इतिहासकार लिखते हैं कि उसका बनानेवाला एक कुस्तुन्तुनिया का उस्ताद ईसा नामक मुसलमान था जो शीराज भौर समरकन्द में अपनी कारीगरी का चमत्कार दिखा चुका था। ताजमहल कई इमारतों का समूह है। यह चारो भोर दीवाल से घिरा हुआ है भौर इसके दोनों भोर दो मसजिदें हैं। इनके बीच में से कमल के फूल के सदृश यह सगमरमर का श्वेत भवन

उठता है। चारों कोना पर चार सगमरमर क मीनार खड़े हुए हैं। नीचे उतरकर वह बड़ा कमरा है जिसमें बादशाह तथा बेगम की कबरें हैं। इसम भनक बेल-बूटे बने हैं और पच्चीकारी का काम है जिस देखकर बड़े कलाविद् भी चकित हो जाते हैं। शब्दों म इसके सौन्दय का वणन करना कठिन है।

मुगलों को बगीचे लगाने का भी शौक था। बाबर ने आगरे म रामबाग नामक बगीचा लगाया था। जहाँगीर और नूरजहाँ भी प्राकृतिक सौन्दर्य के उपासक थे। जहाँ कहीं व ठहरे वहीं उन्होंने बगीचे लगाय। काश्मीर की प्राकृतिक सुन्दरता को उन्होंने मानवीय प्रयत्न से बहुत बढ़ाया। शालीमार तथा निशात नामक उपवन अब तक प्रसिद्ध हैं। लाहौर का शालीमार नामक उद्यान भी इसी समय का है। ताज के चारों ओर बड़े सुन्दर वृक्ष तथा फूल लगाय थ। यह बगीचा अभी तक विद्यमान है और उसकी शोभा को बढ़ाता है।

औरंगजेब के सिंहासनारोहण के बाद मुगल कला का अवनति हो गई। इमारत बनाने का न तो उस शौक था और न उसके पास इतना समय ही था कि वह इस तरफ ध्यान देता। उसने केवल थोड़ी-सी मसजिदें बनवाइ जिनम लाहौर की बादशाही मसजिद अधिक प्रसिद्ध है। यह मसजिद दिल्ली की मसजिद का नमूना है परन्तु सजावट में उससे बहुत घटिया है।

हिन्दुओं ने भी नवीन शैली के अनुसार बहुत सी इमारतें बनवाइ जिनमें वृन्दावन सोनागढ़ (बुन्देलखण्ड स्थित) एलारा के मन्दिर और अमृतसर का सिक्खों का मन्दिर अधिक प्रसिद्ध हैं।

पहाड़ी शैली का विकास चम्बा नूरपुर, कागड़ा सुकेतमण्डी आदि राज्यों में हुआ। मुगल साम्राज्य का विघटन होन पर शाही चित्रकार इन पहाड़ी राज्यों में पहुँच गय थे। यह कला गढ़वाल में भी पहुँची थी। इस कला की विशेषता वास्तविकता तथा भावना का मेल है। रामायण महाभारत भागवत आदि पौराणिक साहित्य के अतिरिक्त

केशव मतिराम विहारी आदि कवियों की रचनायें इन चित्रकारों के विषय हैं। अजन्ता युग के बाद पहाड़ी शैली में ही भारतीय कला अपने वास्तविक रूप में विकसित हुई है।